॥ श्रीहरिः ॥

2027▲

भगवत्प्राप्तिकी अमूल्य बातें

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरि: ॥

2027

भगवत्प्राप्तिकी अमूल्य बातें

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी
गोयन्दकाके प्रवचनोंसे संकलित

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

नम्र निवेदन

गीताप्रेसके संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दका इस युगके एक अधिकारप्राप्त महापुरुष थे। उनके एक ही लगन रहती थी कि मनुष्योंका कल्याण कैसे हो? इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जनसाधारणको सत्साहित्य सस्ते मूल्यपर उपलब्ध करवानेके लिये उन्होंने गीताप्रेस, गोरखपुरकी स्थापना की। स्वर्गाश्रम ऋषिकेशमें ग्रीष्मकालमें ३-४ महीने सत्संग करानेकी व्यवस्था की। अन्य स्थानोंपर भी वे सत्संग करते थे। भगवत्-विषयमें वे पूर्णताको प्राप्त थे। उनके प्रवचनोंसे आध्यात्मिक जगत्‌को निरन्तर लाभ हो रहा है।

उनके प्रवचनोंको कुछ सत्संगी भाइयोंने लिख लिया था। उन्हीं प्रवचनोंको यहाँ संकलित कर पुस्तकका रूप दिया जा रहा है। साधकको क्या चीजें बाधक हैं। कौन-सा साधन करनेसे वह शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर सकता है। जप, ध्यान, सत्संग—यह त्रिवेणी साधकके लिये अत्यन्त लाभदायक है। कञ्चन, कामिनी एवं शरीरका आराम—ये साधकके लिये महान् बाधक हैं। जो साधक सत्यसंकल्प है, उसकी स्वयंकी धारणा साधनमें बहुत लाभदायक है। साधन किस ढंगसे करना चाहिये? कैसे वह साधन जो वर्षोंमें लाभदायक हो, वह महीनोंमें या दिनोंमें ही हमारा कल्याण कर सकता है। इन विषयोंके प्रवचन इस पुस्तकमें हैं और भी बहुत-सी अमूल्य बातें इस पुस्तकके लेखोंमें आयी हैं।

पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि इस पुस्तकको ध्यानसे पढ़ें और पढ़नेके लिये प्रेरणा दें।

—प्रकाशक

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१. भावना ऊँची-से-ऊँची करनी चाहिये ५
२. भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं १२
३. भगवान्‌के प्रेम और रहस्यकी बातें १५
४. महात्माके संकल्प और क्रियाकी विशेषता २०
५. श्रद्धाकी महिमा ३०
६. अपने सिद्धान्तमें दृढ़ रहे ३३
७. नाम भिन्न-भिन्न पर तत्त्व एक ३९
८. सभीकी मुक्ति सम्भव ५०
९. नाम तथा रूपकी पूजा कल्याणमें बाधक ६१
१०. मुक्तिदायक क्षण ७५
११. विशेष आसक्तिके विषय तथा उनसे बचनेका उपाय ७७
१२. श्रद्धा और प्रेमका स्वरूप ८९
१३. भगवत्प्राप्तिमें प्रयत्नकी आवश्यकता १०४
१४. अपनी धारणा और श्रद्धासे महान् लाभ १०६
१५. सुनी हुई बातोंको आचरणमें लानेसे ही लाभ १०९
१६. परहित ही सार है ११४
१७. पालन करनेयोग्य सार बातें १२२

भावना ऊँची-से-ऊँची करनी चाहिये

अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो भी घटना होती है, वह अपने लिये भगवान्‌का मंगलमय विधान है, उसके प्राप्त होनेपर प्रसन्न रहे। प्रभु मंगल करनेवाले हैं, वे अनिष्ट करते ही नहीं।

सत्संग कर रहे हैं, कोई नास्तिक आ जाय और अंट-शंट पूछने लगे तो विघ्न नहीं समझे, उसमें प्रसन्न रहे। यदि विघ्न माने तो नीची श्रेणी है। वह भगवान्‌का भेजा हुआ है, भगवान् परीक्षा ले रहे हैं। अगर विघ्न मान लिया तो अनुत्तीर्ण हो गये, यदि उसे पुरस्कार मान ले तो पुरस्कार है।

बीमारी आती है तो चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे प्यास लगती है तो जल पीनेसे प्यास दूर होती है, इसी तरह औषधि लेनेसे रोग दूर होने लगे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये। यदि रोग बढ़ता है तो दुःखी नहीं होना चाहिये। कोई द्वेष भाववाला आ जाय तो चुप हो जाना चाहिये। मनके अनुकूलमें उतनी शिक्षा नहीं है, जितनी प्रतिकूलमें मिलती है। प्रतिकूलतामें द्वेष, क्रोध, स्पर्धा आदि नहीं हों तो यह उत्तम बात है।

क्रोधका अवसर आपके नहीं आया और आपको क्रोध नहीं हुआ तो उससे क्या पता चले कि क्रोध जीता गया है या नहीं, क्रोधकी स्थिति आनेपर क्रोध नहीं हो तब पता चले। भगवान्‌की दयाको इतनी छोटी बना दी कि स्त्री, पुत्र, धनमें ही दया मान ली। यह आत्मकल्याण करनेवाली नहीं है, इनमें समता रहनी चाहिये। यदि इनमें ही दया मान ली तो डूब जाता है। भगवान्‌की दयाको सकामभावसे मान ले तो नीचे गिरनेकी सम्भावना है।

प्रवचन दिनांक—१२-५-१९५९, गंगेहरकी कुटिया, वटवृक्ष, स्वर्गाश्रम।

प्रतिकूलमें दया माने तो ऊँचा उठानेवाली है। रोग आये तो भगवान् चेताते हैं कि मृत्यु आनेवाली है, भगवान् सावधान करते हैं। रोग पापका फल है। निश्चिन्त होकर कैसे सो रहा है। यदि उस रोगको परम तप मान ले तो वह पाप तप हो जाता है। मैं जब अस्वस्थ हुआ, तब मैंने शरीरमें खोजा, किन्तु वहाँ भोक्ता नहीं मिला।

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति शीघ्र कैसे हो?

उत्तर—भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

जब भगवान् कहते हैं तो मान ही लेना चाहिये। नहीं मानते हैं तो भगवान्‌के वचनोंमें विश्वास कहाँ है? आश्चर्य करना चाहिये कि ऐसा क्यों नहीं होता है।

वैराग्यकी तीव्रता राग-द्वेषको खा जाती है। समता उसका फल है। सार बात बतलाता हूँ।

पहली बात—भक्ति या ज्ञानके नशेमें चूर रहे। यह पता ही नहीं रहे कि संसारमें क्या हो रहा है?

दूसरी बात—भगवान्‌का हृदय पुष्पसे भी बढ़कर कोमल है और वज्रसे भी बढ़कर कठोर है। अश्रद्धालुओंके लिये वज्रसे भी बढ़कर कठोर है और श्रद्धालुके लिये कोमल है। भगवान् जब अवतार लेते हैं तब ये कार्य करते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

माता, पिता, गुरु आदिकी मारमें परम लाभ है। भगवान्ने महाभारत युद्धमें शस्त्र नहीं लिया, जिससे दुर्योधन आदिकी मुक्ति नहीं हुई। जिनकी जैसी भावना होती है उनको भगवान् उसी तरहसे दीखते हैं—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

एक स्त्री है वह शेर, कामी, विरक्त, बच्चे और भक्त सबको अलग-अलग दीखती है। इसी तरह भगवान् भी सबको अपनी भावनाके अनुसार अलग-अलग दीखते हैं। जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी जब कंसकी रंगभूमिमें मल्लयुद्धके लिये गये थे तब वहाँ उपस्थित लोगोंको अपनी-अपनी भावनाके अनुसार दीखे—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भागवतमहापुराण १०। ४३। १७)

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रंगभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रकठोर शरीर, साधारण मनुष्योंको नर-रत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताके समान

बड़े-बूढ़ोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्टिवंशियोंको अपने इष्टदेव जान पड़े (सबने अपने-अपने भावानुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृंगार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त और प्रेम-भक्तिरसका अनुभव किया)।

जब अपने भावना ही करनी है तो ऊँची-से-ऊँची करनी चाहिये। ऊँची भावना क्या है?

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान्ने दया करके मनुष्यशरीर दे दिया, यह अन्तका जन्म ही है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यशरीर अन्तिम है। साधन करके उससे काम बना ले तो यह अन्तिम जन्म है। यह धारणा करनी चाहिये कि भगवान् ही अनेक रूप धारण करके लीला कर रहे हैं। क्रियामात्र भगवान्की लीला है। वस्तुमात्र भगवान्का स्वरूप है।

भगवान् बछड़े बन गये थे, वह लीला थी। यदि हम यह समझ लें कि सारे रूप भगवान्ने धारण कर रखे हैं तो सबमें भगवत्-भाव भी हो गया और श्रवण भी हो गया। यह बहुत

ऊँची श्रेणीकी बात है।

भगवान्‌का मिलना सुगम-से-सुगम और कठिन-से-कठिन है। जिसमें श्रद्धा, विश्वास है उसके लिये बहुत सुगम है, जिसमें श्रद्धा, विश्वासकी कमी है उसके लिये कठिन-से-कठिन है।

आपने भगवान्‌को कठिन मान लिया है, इसलिये विलम्ब हो रहा है। आपने साधन थोड़ा किया और मान बहुत लिया। आप हिसाब लगायें, आप कितने समय भजन करते हैं और कितने समय दूसरा काम करते हैं।

एक करोड़ रुपये नित्य कमानेवाला भी कहता है कि कम है। इसी तरह यदि चौबीसों घण्टे भजन होने लगे तो वह भी कहेगा अभी भजन थोड़ा होता है।

माला तो कर में फिरे जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरे यह तो सुमिरन नाहिं॥

हम जो साधन करते हैं, वह बेगारकी तरह करते हैं। प्रेम हो जाय तो भजन छूट ही नहीं सकता। जैसे प्रह्लाद, मीरा आदिको कितनी कठिनाई हुई, पर उनसे भजन नहीं छूटा।

भजन करते हुए सब रोमोंसे नाम-जप हो। यह बात बहुत प्रेम, श्रद्धासे करे तब मालूम पड़ता है। भजन श्रद्धा-विश्वाससे करे। भजनसे पापोंका नाश मानना भूल है, क्योंकि अन्धकारका नाश तो सूर्यभगवान्‌के आभासमात्रसे हो जाता है। सूर्यसे फिर क्या कहे कि हे सूर्यभगवान्! अन्धकारका नाश कर दें। उसी तरह भगवान्‌के स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश हो जाता है।

पारससे संत श्रेष्ठ हैं। संतोंसे नाम श्रेष्ठ है, जिससे भगवान्‌की प्रतिष्ठा है। भगवान् नामसे बढ़कर श्रेष्ठ हैं। भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं। जो भगवान्‌को सबसे श्रेष्ठ समझ लेता है, वह

उनको सब प्रकारसे भजता है। वह कभी परमात्माको भूल नहीं सकता।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

जब वह परमात्माको कभी नहीं भूलेगा तो परमात्मा भी उसको कभी नहीं भूलेंगे। संसारके पदार्थ स्वतन्त्र नहीं है, वे इच्छा करनेसे नहीं मिलते, वे प्रारब्धसे मिलते हैं। भगवान् स्वतन्त्र हैं, वे इच्छा करनेसे मिलते हैं। भगवान् आज ही मिल सकते हैं। एक भगवान्‌के सिवाय और किसी चीजकी इच्छा नहीं रखें।

हमारी स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिमें प्रीति है, यदि उन सबसे प्रीति हटाकर एक भगवान्‌में प्रीति हो जाय तो भगवान् हमारे पीछे-पीछे घूमने लग जायँ। हमारा प्रेम, भक्ति दूसरेमें होगी तो भगवान् नहीं आयेंगे। यह व्यभिचारिणी भक्ति है, उससे भगवान् नहीं आते। केवल भगवान्‌के मिलनेकी उत्कट इच्छा हो, तब भगवान् रह नहीं सकते।

लोग रुपया, स्त्री, पुत्र चाहते हैं, पर मिलते कितनोंको हैं। जितना उनके प्रारब्धमें होता है, उतना ही मिलता है। भगवान्‌में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम या उत्कट इच्छा हो जाय तो इनमेंसे एक-एक बात भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है। भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

प्रेमसे दिया हुआ मैं खाता हूँ। क्या भगवान्‌ने झूठ कहा है, आप प्रेमसे देंगे तो आज भी भगवान् आकर खा सकते हैं।

जैसे द्रौपदीने बुलाया और भगवान् आ गये। भगवान्‌ने सहदेवसे कहा कि दुर्वासाजीको बुला लाओ। यह श्रद्धा है कि वहाँपर खानेकी एक भी चीज नहीं, किन्तु भगवान्‌ने कहा बुला लाओ तो बुलाने चले गये।

कुछ ध्यानमें रखनेयोग्य सूत्र

१. पद या अधिकारका अभिमान नहीं करना चाहिये।

२. अपनेको सबके चरणोंका दास समझना चाहिये।

३. किसीकी चुगली, निन्दा आदि नहीं करनी चाहिये।

४. सबके साथ प्रेमका बर्ताव करना चाहिये, सेवा भाव रखना चाहिये।

५. समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। मैं अपना समय व्यर्थ नहीं खोता हूँ, जब चुपचाप बैठा रहता हूँ, तब जप करता रहता हूँ।

भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं

कलियुगमें बहुत-से भक्त हुए हैं। नरसी, सूरदास, तुलसीदासजी, गौरांग महाप्रभु आदिकी जीवनीसे प्रतीत होता है कि उनको भगवान्‌की प्राप्ति हुई थी।

ईश्वर प्रेमसे मिलते हैं, इसमें कोई देश, काल बाधक नहीं है। भगवान् सभी जगह हैं, वे सभी जगह मिल सकते हैं। यदि ऐसा होता कि भगवान् हरिद्वारमें होते तो हरिद्वारमें ही मिलते, लाहौर, अमृतसरमें नहीं, परन्तु वे सब जगह हैं। उनके लिये कोई काल बाधक नहीं है। सत्ययुगमें भगवान्‌का भजन, ध्यान करनेवाले अधिक थे, तब कानून कड़ा था। अब जब भजन करनेवाले कम हुए तो कानून भी हलका हो गया।

सबसे बढ़कर भगवान्‌का भजन, ध्यान, नामका जप और सत्-पुरुषोंका संग है। पानीको जल, वाटर, नीर कुछ भी कहो एक ही बात है, इसी प्रकार हरि, राम, अल्लाह, गॉड एक ही बात है। भाषा अलग है, चीज वही है। हमको जो नाम अधिक रुचिकर हो वही हमारे लिये हितकर है। सभी भगवान्‌के नाम हैं।

जो निराकारके उपासक हों उनके लिये ॐ नाम बताया गया है। जो रामके उपासक हों उनके लिये राम, कृष्णके उपासक हों उनके लिये कृष्ण नाम है। वस्तुसे दो चीज नहीं है, किन्तु एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा कभी विष्णुरूपसे, कभी राम रूपसे, कभी कृष्ण रूपसे प्रकट होते हैं, वस्तु एक ही है। विष्णुसहस्रनाममें भगवान् विष्णुके एक हजार नाम लिखे हैं। चाहे जिस नामसे उन्हें पुकारो। जिसको जिस नामसे प्राप्ति होती है, वह उसी नामको श्रेष्ठ बताते हैं। नाम सब भगवान्‌के ही हैं।

मिश्री किसी प्रकार भी खाओ, मुँह मीठा ही होगा। यह बात

अवश्य है कि मालापर जप करनेसे संख्याकी गिनती रखनेसे नाम-जप अधिक हो सकता है, किन्तु हर काम करते समय नाम-जप करते ही रहें।

गोपियाँ हर-एक पदार्थमें भगवान्‌का दर्शन किया करती थीं। काम करते समय भी और काम नहीं करते समय भी।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।

भगवान्‌के प्रेमी निर्बल नहीं होते। वे सब कुछ कर सकते हैं। भगवान् उनके अधीन हो जाते है। दुर्वासा ऋषि भगवान्‌के पास गये। अपना अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्‌ने कहा—यह मेरे हाथकी बात नहीं है। मैं तो भक्तके अधीन हूँ। आप अम्बरीषके पास ही जायँ।

भगवान् विश्वासके योग्य हैं। उनमें विश्वास करनेसे काम हो जाता है। हजारों मनुष्योंमें कोई एक पुरुष ही भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। उन भक्तोंमें भी किसी एक भक्तके ही भगवान् अधीन होते हैं। भगवान्‌की प्राप्ति बहुत कठिन नहीं है, किन्तु दूसरोंको भगवान्‌की प्राप्ति करा देना यह कठिन बात है।

एक पुरुष भगवान्‌को स्वयं प्राप्त कर लेता है और एक दूसरोंको भी प्राप्त करा सकता है। ऐसे पुरुष मिलने बहुत कठिन हैं। गौरांग महाप्रभुमें यह माना जा सकता है कि वे दूसरोंको भी प्राप्ति करा सकते थे।

प्रश्न—आप आशीर्वाद दे दीजिये।

उत्तर—आशीर्वाद वे ही दे सकते हैं, जिनको भगवान्‌ने अधिकार दे रखा है। मैं साधारण मनुष्य हूँ आशीर्वाद और वरदान वे ही पुरुष दे सकते हैं, जिनके पास अधिकार होता है। मुझे भी भगवान् अधिकार दे देते तो मैं भी आशीर्वाद दे देता।

में यदि आशीर्वाद दूँ तो बिना अधिकार रजिस्ट्री करनेवालेकी जैसी फजीहत होती है वैसी ही मेरी भी होगी।

प्रश्न—माला कौन-सी फेरनी चाहिये?

उत्तर—जो शंकरकी उपासना करता है उसके लिये रुद्राक्षकी और कृष्ण, राम, विष्णुकी उपासना करनेवालेके लिये तुलसी या चन्दनकी उत्तम मानी गयी है।

एकान्तमें बैठकर भगवान्‌के आगे रोये, हे नाथ! आप क्यों नहीं आये? आप तो दासोंके अपराधोंकी ओर देखते ही नहीं। भगवान्‌के लिये विलाप करे और कभी-कभी यह समझकर कि भगवान् हमारे पास ही बैठे हैं, उनसे बात करे। स्वयं ही प्रश्न करे और स्वयं ही उत्तर भी दे।

मान-बड़ाई, प्रतिष्ठासे खूब डरना चाहिये।

जन-समूहका संग कम करना चाहिये। मनुष्य जैसा संग करता है वैसा ही प्रभाव उसपर होता है।

जो मनुष्य आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन कर सके, उसके लिये शास्त्र यही आज्ञा देगा कि ब्रह्मचर्यका पालन करो और भगवान्‌की भक्ति करो।

बसहिं भगति मनि जेहि उर माहीं। खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

भगवान्‌के ऊपर निर्भर रहना चाहिये, वे ही सब प्रकार निभाते हैं, उनका काम यही है। खूब विश्वास रखना चाहिये। निश्चिन्त रहना चाहिये। बिलकुल चिन्ताकी गुंजाइश ही नहीं दे। हमें किस चीजका भय है?

स्त्रियोंमें स्त्रियों द्वारा ही प्रचार करना ठीक है। बहुत-सी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर सत्संग करें तो अच्छी बात है। कुछ भी चाहना नहीं करें।

प्रेम करनेके योग्य परमात्मा ही हैं।

भगवान्‌के प्रेम और रहस्यकी बातें

आज भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी बातें कहनेका विचार किया गया है। एक सज्जनने कहा कि धर्मकी लुटिया डूब रही है। इस विषयमें निवेदन है कि आपको यह विश्वास रखना चाहिये कि जिसका नाम सनातन है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। हाँ, किसी समय दब जाता है, किसी समय जोर पकड़ लेता है। लोग इस समय इसके नाशके लिये कटिबद्ध हो रहे हैं, पर हमलोगोंको उस अनन्त शक्तिमान्‌की शक्तिका सहारा लेकर इसके प्रचारके लिये निमित्तमात्र बन जाना चाहिये। यश ले लो, निमित्तमात्र बन जाओ। जो कोई अपनी सामर्थ्य मानता है, उसे भगवान् मुँह-तोड़ उत्तर देते हैं। शक्ति भगवान्‌की है और अपनी माने, भगवान् इसको नहीं सहते। केनोपनिषद्‌की कथा है—एक बार देवताओंको अपने बलका अभिमान हो गया। यक्षके रूपमें भगवान् प्रकट हुए। अग्नि, वायु, इन्द्र क्रमशः उनके पास गये। पूरे ब्रह्माण्डको जलाने, उड़ानेकी बात करनेवाले एक तिनकेको भी जलाने, उड़ानेमें असमर्थ हो गये। उमाके रूपमें साक्षात् परमात्माने प्रकट होकर इन्द्रको बतलाया कि सारी शक्ति, तेज-प्रभाव सब कुछ भगवान्‌का ही है।

यही बात हमलोगोंको समझनी चाहिये। जो कोई भी अभिमानसे बात करता है, उसे भगवान् नहीं सह सकते। हाँ, स्वामीके बलपर हमलोगोंको किसीसे डरनेकी क्या आवश्यकता है। पुलिसके दस रुपये महीनेके सिपाहीके मनमें एक बड़े करोड़पति सेठको, जिसके दरवाजेपर बन्दूकोंके पहरे लगते हैं—

प्रवचन दिनांक—२८-७-१९४३, गोविन्द भवन, कलकत्ता।

हथकड़ी डालकर ले जानेमें क्या भय होता है? उसके पीछे सरकारका बल है। इसी प्रकार जो कोई भी अच्छे काममें निमित्त बनना चाहता है, उसे भगवान् बना देते हैं। पुलिसका सिपाही होकर भी जो कहे कि मैं सेठको कैसे पकड़ सकता हूँ—वह पुलिसकी नौकरीके लायक नहीं है। भगवान्‌के दास होकर अपनी कमजोरीका विचार क्यों करें। भगवान्‌का बल है। जो धर्मसे डरता है, उसके सारे कार्य अन्तमें सिद्ध होते हैं। हरिश्चन्द्रको देखिये—कितने संकट आये। राज्य चला गया, पुत्र मर गया, स्त्री शव लेकर जलाने आती है, हरिश्चन्द्र स्वामीका कर माँगते हैं। स्त्री कहती है—महाराज यह आपका पुत्र है, इसके लिये कफन ही नहीं है, कर कहाँसे दूँ। राजा कहते हैं—तू अपना आधा वस्त्र करके रूपमें दे दे, उसे बेचकर कर जमा करा दूँगा। रानी कहती है, काट लें। हरिश्चन्द्र तलवार लेकर ज्यों-ही काटना चाहते हैं, बस भगवान् प्रकट हो जाते हैं, भगवान् और नहीं सह सकते। हरिश्चन्द्रके धर्मपालनके परिणाम स्वरूप सारे नगरका उद्धार हो गया। धर्मपालनमें यदि कष्ट नहीं होता तो सभी धर्मपरायण हो जाते। इस कष्ट सहनका परिणाम देखो। इस प्रकारके परोपकारी जीवोंकी चरणधूलिके लिये भगवान् उनके पीछे-पीछे फिरते हैं। ब्रह्मा कहते हैं—हमारे मस्तकपर चरण धरकर हमें पवित्र करके आप लोग आगे जाइये। कितनी बड़ी बात कहते हैं। शक्ति भगवान्‌की, भगवान् करवाते हैं, सब कुछ भगवान्‌का ही है। पर भगवान् शक्ति किसे देते हैं, जो लेना चाहता है। हमलोग मूर्खतावश अभिमान कर बैठते हैं कि मेरी शक्ति है। बस 'मैं (अहंकार)' आते ही भगवान्‌का थप्पड़ लगता है, चेत हो जाता है। यह भगवान्‌की कृपा है। गुरु जैसे

थप्पड़ लगाकर चेत करा देते हैं। भगवान् अपने भक्तका अभिमान नहीं सह सकते।

माँ बच्चेके रोनेकी परवाह न करके फोड़ा चिरवा ही देती है। अत: लक्ष्मणकी तरह बोलो ***'तव प्रताप बल नाथ।'*** यह मत भूलो। भगवान्‌के बलका आश्रय रखो। उसके बलपर सब हो सकता है। चूरूमें मोचियोंके पास एक राजकर्मचारी कर लेनेके लिये गया। उनके अभी कर देनेमें असमर्थता जतानेपर राजकर्मचारी उन्हें गालियाँ देने लगा। उसके हाथमें राजकीय छड़ी थी। मोचियोंने कहा—हम महाराज साहबकी छड़ीका सम्मान करते हुए आपकी गालियाँ सहन कर रहे हैं। उसने छड़ी फेंक दी। मोचियोंने उसकी खूब पिटाई की। राजाके पास शिकायत जानेपर मोचियोंने कहा—अन्नदाता! इसने आपकी छड़ी फेंक दी। हमें यह कैसे सहन होती। इसी प्रकार हम अपना प्रभाव मानें, तब जूते पड़ेंगे। जैसे उस कर्मचारीको मोचियोंके जूते पड़े और हमारे यमराजके पड़ेंगे। भगवान्‌की शक्तिको समझनेपर कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आपको भय करनेकी आवश्यकता नहीं, कितना ही बड़ा काम हो—भगवान्‌की कृपासे सब कुछ हो सकता है। एक मामूली व्यक्ति सारे संसारमें भगवान्‌के भावोंका प्रचार कर सकता है। भगवान् कहते हैं—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६९)

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।

प्रथम तो गीताका प्रचार अपनी आत्मामें करना चाहिये। पहले

सिपाही बनकर सीखेंगे, तभी तो कमाण्डर बनकर सिखलावेंगे। आप जितनी मदद चाहें उतनी मिल सकती है। एक ही व्यक्ति स्वामी शंकराचार्यने कितना प्रचार किया, भगवान्‌की शक्ति थी। भगवान्‌ने यह कहीं नहीं कहा कि शंकराचार्यजीसे बढ़कर कोई नहीं होगा, किन्तु गीताका प्रचार करनेवालेके लिये कहा है।

हरेक प्रकारसे गीताका प्रचार करना चाहिये। भगवान्‌की भक्तिके सभी अधिकारी हैं। गीता बालक, युवा, वृद्ध, सभीके लिये है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३२-३३)

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।

जातिसे नीच या आचरणसे नीच, कोई भी हो, भगवान्‌की कृपासे सबका उद्धार हो सकता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

सार यही है कि भगवान्‌के कामके लिये कटिबद्ध होकर लग जाना चाहिये। **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** अपने धर्मपालनमें मरना भी पड़े तो कल्याण ही है। बन्दरोंने भगवान्‌का काम किया—उनमें क्या बुद्धि थी। गीताका प्रचार भगवान्‌का ही काम है, कोई भी निमित्त बन जाय। जितने निमित्त बने, उससे कितना अधिक प्रचार हो रहा है। मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको ठोकर मारकर काम करो, फिर देखो भगवान् पीछे-पीछे फिरते हैं। सारा काम भगवान् स्वयं ही करते हैं। तैयार होकर करो, डरो मत। विश्वास करो—लुटिया डुबानेवाला कोई नहीं है।

महात्माके संकल्प और क्रियाकी विशेषता

गीताके नवें अध्यायमें आया है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि** फिर आया **न च मत्स्थानि भूतानि**। यह विरुद्ध-सा वचन प्रतीत होता है। इसी प्रकार उन पुरुषोंमें कोई संकल्प होता ही नहीं।

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

(गीता ६। २)

संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

विरुद्ध-सी बात प्रतीत होती है। ईश्वर और महात्मा कोई क्रिया करते ही नहीं। यदि वे करते हैं तो उनकी क्रिया अमोघ होती है। इसी प्रकार वे संकल्प करते नहीं, यदि होता है तो वह अमोघ होता है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

प्रवचन दिनांक—२३-११-१९४४, गोयन्दका गार्डेन, गोरखपुर।

यह कहा जाता है कि उनके द्वारा कोई क्रिया नहीं होती। यह वास्तविक सिद्धान्त आत्माकी दृष्टिसे है। क्रिया शरीरके द्वारा ही होती है। उसमें कौन कर्ता बने? क्यों बने? कैसे बने? उनकी क्रिया व्यर्थ नहीं होती, यह जो कहा जाता है, यह भी ठीक है।

ब्रह्म अक्रिय है, उसमें क्रिया नहीं है, वहाँ कोई कर्त्ता नहीं होता है, जैसे ईश्वरके लिये बताया है, वैसे ही महात्माओंके बारेमें है। उनके द्वारा क्रिया होती है, न कि वे करते हैं।

जो कुछ वे कह देते हैं, वैसे ही होता है। जो संकल्प कर लेते हैं, वैसे ही होता है। भावीकी बात वही कही जाती है, जो होनेवाली होती है।

महाभारत उद्योगपर्वकी बात है, नारदजीने कहा—ऐसी-ऐसी बात होनेवाली है। युधिष्ठिरने कहा—तब मैं प्राण ही त्याग दूँगा, कुलका नाश क्यों करूँगा। वास्तवमें नारदजीके वही संकल्प हुआ जो होनेवाला था। वे संकल्प करते नहीं, अपितु हो जाता है और वह सत्य भी हो जाता है। इसी प्रकार वे जो कुछ वचन कहते हैं, वह सत्य होता है। जब सत्यवादीका वचन ही मिथ्या नहीं होता, तब एक महात्माका वचन सत्य हो, इसमें बात ही क्या है। ज्ञानीकी क्रिया सत्य होती ही है। साथ-साथ एक बात और होती है, उनका शाप भी वरका फल देता है। अज्ञानी पुरुषोंका शाप सत्य हो सकता है, किन्तु उससे उपकार नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें उदाहरण आते हैं, ज्ञानी पुरुषोंके शापका फल अच्छा ही हुआ है। जिसके शापका फल अच्छा नहीं हुआ, उसे हम ज्ञानी नहीं मानते।

जब एक योगी, तपस्वीका संकल्प भी सत्य हो जाता है, तब

एक महात्माका हो उसमें बात ही क्या है? परमात्माका तो होता ही है।

वास्तवमें ज्ञानी और महात्मा न कोई क्रिया करते हैं, न संकल्प करते हैं, फिर भी उनके शरीरसे क्रिया भी होती है और संकल्प भी होता है और वह व्यर्थ नहीं होता।

महात्माने कह दिया तुम्हारा पिता मर जायगा, पिता मर गया; किन्तु महात्माके द्वारा क्रिया लोकोपकारकी ही होती है।

श्रेष्ठ-कर्म वही है जिससे लोगोंका उपकार हो। साधु-पुरुषोंकी क्रिया महत्त्वपूर्ण है। कुन्तीने सूर्यका आवाहन किया, सूर्य आ गये।

इससे सिद्ध होता है कि इस प्रकारका संकल्प सत्य हो जाना, यह तो भगवत्प्राप्तिके पूर्वमें ही हो जाते हैं। दुर्वासाके सिखाये हुए मन्त्रसे ही देवताओंको बुला लिया। वैसे कुन्तीने विनोदमें यह काम कर लिया, महात्मा विनोदसे इस प्रकारकी कोई क्रिया नहीं करते। उनका प्रयोजन मामूली नहीं होता।

उन्होंने कहा खेतमें बीज बो आओ, बीज बो दिया, वह तो उगेगा ही। इसमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है, किन्तु उनकी क्रिया लोगोंका कल्याण करनेवाली हो, तभी वह सत्य है।

जो क्रिया फल देकर नष्ट हो जाती है, वह सत्य नहीं है, वह तो असत् है। गरीबोंको अनाज बाँटा जाता है। आपने भी गरीबोंको कपड़ा, अनाज दे दिया, उससे उन्हें तृप्ति हुई। इसी प्रकार महात्माने अनाज, वस्त्र बाँटा तो क्या एक-सी बात होगी? महात्माने वस्त्र दिया, जिसने वस्त्र लिया, उसके चित्तमें महात्माका चित्र आया, उसे वह बार-बार याद करेगा,

परमात्माकी प्राप्तिविषयक लाभ उसे होगा।

अन्न देनेपर किसीकी क्षुधाकी निवृत्ति तो आप दें और एक महात्मा दें दोनोंसे समान भावसे होगी, किन्तु महात्माके स्पर्श किये हुए अन्नसे भगवत्प्राप्तिकी जागृति होगी। यह लाभ साधारण पुरुषके दिये हुए अन्नसे थोड़े-ही होगा। महात्माकी सारी क्रिया भगवत्प्राप्ति करानेसे ओत-प्रोत रहती है।

महात्माद्वारा कपड़ा-अन्न बाँटना ही नहीं, अपितु वह क्रय-विक्रय भी करता है तो उससे भी वह मुक्तिका दान ही कर रहा है।

उनकी हर-एक क्रिया परमात्माकी प्राप्तिमें सहायता करनेवाली होती है। इसलिये उनकी सारी क्रिया सत् होती है। कल्याण-विषयक लाभ सभी लोगोंको होगा। ज्ञान एवं श्रद्धा हो तो अधिक लाभ होगा। ज्ञान, श्रद्धा नहीं है तो भी सामान्य लाभ तो होगा ही। अग्नि पड़ी है, सामान्य लाभ कमरा गर्म हो जायगा। यह तो बिना ज्ञानके भी होगा और मुक्तिविषयक लाभ श्रद्धा और ज्ञानसे होगा।

इसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके पास रहनेसे उनमें जो गुण हैं, उनकी सामान्य आँच तो हमें मिलती ही है, जब यह ज्ञान होता है कि ये महात्मा हैं तब और अधिक लाभ होता है।

उपकार करनेवाला जिसका उपकार करता है, उसमें उसकी श्रद्धा होगी ही।

दुर्योधन कैसा दुष्ट था, उसपर भी युधिष्ठिरके उपकारका प्रभाव पड़ा। जब इस प्रकारका प्रभाव एक वैरीपर भी पड़ सकता है तो दूसरोंपर पड़ेगा ही। उपकार ऐसी ही चीज है। उससे मन बदल जाता है। इसलिये यह कहा जाता है कि आपके

साथ कोई कैसा ही व्यवहार करे, आप उसके साथ अच्छा ही व्यवहार करें। तुलसीदासजी कहते हैं—

गरल सुधा सम अरि हित होई । ते मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

विष अमृतके समान हो जाता है, वैरी मित्र बन जाता है, यह ईश्वरकी भक्तिका प्रताप है। ईश्वरकी भक्ति जिसमें होती है, उसके सारे आचरण सत् होते हैं।

जितने उत्तम गुण आचरण हैं, उनके लिये अलग कोई साधन नहीं करना पड़ता है। इसलिये यह बात है कि उनकी सारी क्रिया सत् होती है। यह बात देखी भी गयी है। महात्माओंकी तो बात ही क्या है। हमलोग साधारण पुरुषोंकी बात है कि बुराई करनेवालेके साथ जो बुराई नहीं करता, उससे बुराई करनेवालेका हृदय भी बदल जाता है, फिर उसके साथ भलाई करनेपर बदले, इसमें कहना ही क्या है? इसलिये जो बहुत नीची श्रेणीका मनुष्य है, उसपर भी प्रभाव पड़ता है। जो योग्य होते हैं उनपर तो बहुत अधिक प्रभाव होता है।

जो हमारे साथ बुराई करे, हम उसके साथ बुराई करें, इससे वह दब सकता है, किन्तु समय पाकर वह बदला लेगा। लेकिन हम बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करें तो वह बदल जायगा, फिर आगे बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है। यही बात गालीके विषयमें है। यही मार-पीटके बारेमें है। शास्त्र, युक्ति, प्रत्यक्ष—सब प्रमाण हैं, इसलिये हमें ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये।

दुष्टका भी हृदय बदल जाता है, उसके साथ भी भलाई ही करनी चाहिये। प्रकरण चल रहा था महात्माओंके द्वारा जो क्रिया होती है, उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति-विषयक लाभ होता है। शरीरके द्वारा जो क्रिया होती है, उसीको हम कहते हैं कि वे

करते हैं। वास्तवमें तो वे क्रिया करते ही नहीं।

प्रश्न—क्रय-विक्रय और दानमें तारतम्य है क्या?

उत्तर—जब एक राजयक्ष्माके रोगीकी स्पर्श की हुई वस्तुका प्रभाव होता है, तब महात्माओं द्वारा स्पर्श किये हुए अन्नका प्रभाव क्यों नहीं होना चाहिये।

जिसकी जितनी जानकारी होती है उतना लाभ होता ही है, चाहे क्रय-विक्रयका ले जाओ, चाहे दान रूपमें ले जाओ। किन्तु दानकी अपेक्षा क्रय-विक्रयसे ले गये अन्नसे अधिक लाभ होता है। दानके सब लोग अधिकारी भी नहीं होते। कई लोगोंके मनमें यह बात रहती है कि महात्माका अन्न तो मैं ले जाना चाहता हूँ, किन्तु बिना मूल्यके नहीं। बदलेमें कुछ देकर लेनेकी वृत्ति अच्छी है। महात्माका अन्न होते हुए भी यह अधिक मूल्यवान् है कि बदलेमें महात्माको कोई चीज दे दे, उनकी कोई सेवा कर दे। नहीं तो लिप्साकी वृत्ति हो जायगी।

दूसरेके धनमें ग्लानि होनी चाहिये, यह नहीं रहेगी। किन्तु जहाँ मूल्य देकर लेनेमें प्रेममें बाधा आती हो, उस जगह मूल्य देकर लेनेकी अपेक्षा दानमें लेना अधिक लाभकी चीज है। इसके और भी कई भेद हैं।

महात्माका द्रव्य हमारे घरमें आ गया, उससे लाभ तो होगा ही। हम उसके बदलेमें कुछ मूल्य देते हैं, इसलिये कि हमारी लिप्सा न हो जाय और हमारा द्रव्य महात्माके घरमें जायगा तो वह भी पवित्र होगा ही। महात्माको हम कुछ देगें तो हमारा अपवित्र धन भी पवित्र हो जायगा और उनका पवित्र धन लेंगे तो भी हमारे लाभ होगा। उनसे तो किसी तरह भी भेंट हो जाय लाभ-ही-लाभ है। इसीलिये कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

परब्रह्म परमात्मामें जिसका चित्त लीन हो गया है, वह अपार आनन्द-समुद्रमें सराबोर हो जाता है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी माता कृतार्थ हो जाती है एवं धरती पुण्यवान् हो जाती है।

श्रद्धा भाव हो तो लेनेमें हानि नहीं है, किन्तु अधिक लाभ मूल्य देकर लेनेमें है। बिना जाने साधारण लाभ है। जाननेसे अधिक लाभ है। श्रद्धासे और अधिक लाभ है।

एक ब्राह्मण है वह खरीदकर ले आया। एक ब्राह्मण है, उसे दाताने आग्रहपूर्वक दे दिया। एक ब्राह्मण है, वह माँगकर ले आया। माँगकर लाया वह सबसे नीची श्रेणीका है।

एक दानमें लाया है। एक मूल्य देकर लाया है। दोनोंमें जो मूल्य देकर लाया है, वह श्रेष्ठ है। माँगकर लाया हुआ तो मृत है, जो बिना माँगे मिला है वह अमृत है। जो मूल्य देकर लाया हुआ है, वह अमृतसे भी बढ़कर अमृत है।

प्रश्न—महात्माका कोई हेतु नहीं होता, फिर उनके संकल्पसे किसीका भला होता है, यह संकल्प या क्रिया किस हेतुसे होती है।

उत्तर—उसके होनेमें तीन हेतु होते हैं—

१. एक हेतु होता है ईश्वरकी प्रेरणा। परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषमें कोई अभिमानी नहीं होता, वह परमात्माकी ही चीज हो जाती है, परमात्मा फिर चाहे जो काम लें।

२. दूसरी बात यह है कि उसके प्रारब्ध तो रहता ही है, इसलिये प्रारब्धके अनुसार क्रिया होती रहती है। प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छा, अनिच्छा एवं परेच्छासे। अनिच्छा

एवं परेच्छामें तो उसे क्रिया नहीं करनी पड़ती। स्वेच्छामें क्रिया करनी ही पड़ती है।

३. तीसरी बात यह है कि दूसरोंके प्रारब्धके अनुसार किसीका श्रद्धा प्रेम हो गया, उसका बदला चुकानेके लिये उनकी क्रिया हो जाती है या किसी व्यक्तिका कोई पूर्वजन्मका लेन-देन है तो कोई लड़का बनकर, कोई लड़की बनकर, कोई मित्र बनकर ले लेता है।

वास्तवमें बात यह है कि किसी भी कारणसे उनसे सम्बन्ध हो जाय, भगवत्-विषयक लाभ मिलेगा ही, किन्तु श्रद्धा-प्रेमसे जो सम्बन्ध होगा उससे अधिक लाभ होगा। साधारण लाभ तो बिना श्रद्धा-प्रेमके भी होगा। कुलके लोग हैं वे बातचीत करके लाभ उठाते हैं, बदलेमें महात्मा उनके घर जाता है तो भी उनके लाभ होता है, सब प्रकार लाभ-ही-लाभ होता है। वह कितने प्रकारका लाभ बतलाया जाय, इसलिये यह बात बतलायी जाती है कि उनका कुल पवित्र हो जाता है, क्योंकि कुलमें बातोंका आदान-प्रदान अधिक रहता ही है। महात्मा किसीका निमन्त्रण स्वीकार करता है तो देनेवालेके लाभ है और किसीको निमन्त्रण देता है तो भी उसके लाभ ही है। दोनों ओरसे लाभ है। किसी भी प्रकारसे उनके साथ भेंट, दर्शन, स्पर्श, चिन्तन हो जाय। हम उन्हें स्पर्श करें, देखें तो हमारे ही लाभ है। वे हमें स्पर्श करें, देखें तो भी हमारे ही लाभ है। महात्माके लाभकी गुंजाइश ही नहीं है, वे पूर्ण हैं। दूसरोंके ही लाभ होता है। वे हमारा दर्शन करें तो उनकी नेत्रोंकी वृत्ति हमारेपर पड़ी, हमारे लाभ होगा। जिस प्रकार हम गंगा-स्नान नहीं करें, किन्तु गंगाकी लहर उछलकर हमारे ऊपर पड़े तो हमारे लाभ होगा ही। महात्माके

दर्शनसे उनके गुणोंकी स्मृति होगी, हमारेमें उनके गुण आवेंगे।

जब एक पापी आदमीको याद करनेसे उसकी बुरी-वृत्ति हमारे हृदयमें आती है, फिर महात्माको या परमात्माको याद करेंगे तो लाभ क्यों नहीं होगा। महात्मा यदि हमें याद करेंगे तो हमारे आचरण पवित्र हो जायँगे। हमारे दुराचारोंको महात्माने याद कर लिया तो हमारे दुराचार छूट जायँगे। महात्माके पास जाकर हमने दुराचारका वर्णन कर दिया तो समझो वह समाप्त हो गया।

शास्त्रोंमें यह बात आती है कि किसीसे गौ-हत्या हो जाय तो वह गौकी पूँछ गलेमें डालकर घूमे कि मैं गौ-हत्यारा हूँ, इससे वह हत्या छूट जाती है।

ईश्वर हमें याद करें तो हमारे लाभ होता है। कोई आकर समाचार दे कि ईश्वर आपको याद करते थे तो हमारे आनन्दका क्या ठिकाना। हम ईश्वरको याद करेंगे, उससे लाभ होता ही है, उसकी अपेक्षा ईश्वर हमें याद करें, उससे अधिक लाभ होता है। तभी तो अंगद हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

एक दुष्ट व्यक्ति हमारे घर आये तो भी नुकसान, दुष्ट हमें बुलाये तो भी नुकसान। दुष्ट मनुष्यसे किसी प्रकार भेंट हो, हानि-ही-हानि है। अच्छे लोगोंसे किसी प्रकार भेंट हो, लाभ-ही-लाभ है। ईश्वर सर्वज्ञ हैं। उन्हें कोई याद करता है तो वे जान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति मुझे याद करता है, वे भी उसे याद कर लेते हैं। महात्मा सर्वज्ञ नहीं है, फिर भी ईश्वरकी तरह उन्हें सर्वज्ञ माने। वह यदि महात्माको याद करता है तो महात्माको बेतारके तार द्वारा समाचार पहुँच जाता है और वह याद कर लेता है। इसलिये **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**।

(गीता ४। ११) यह बात ईश्वरपर लागू पड़ती है, महात्मापर लागू नहीं पड़ती।

महात्मा बिना भजे भी किसीको भज लेते हैं, किन्तु यह बात ईश्वरपर लागू नहीं पड़ती, यदि लागू पड़ती तो सबका उद्धार हो गया होता। कोई अपने साथ असत् व्यवहार करे तो भी उसके साथ सत् व्यवहार ही करे, यह महात्माके लिये लागू है, ईश्वरके लिये नहीं। इसीलिये यह बात कही गयी है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

यह कहना एक प्रकारसे विनोद भी है, एक प्रकारसे ठीक भी है, क्योंकि महात्मा बलात् सबका कल्याण कर सकते हैं, ईश्वर नहीं।

श्रद्धाकी महिमा

भगवान्‌के दर्शन जिसको होते हैं, वही कह सकते हैं कि भगवान् मिलते हैं, दूसरा कैसे कह सकता है।

अद्वैतकी जो बातें हम पढ़ते हैं, सुनते हैं; उनमें सबसे अच्छा मुझे मेरा सिद्धान्त मालूम पड़ता है। मेरी जो बातें हैं, मेरी धारणामें ठीक हैं। हो सकता है कि दूसरोंको ठीक न लगे, पर मुझको कोई सन्देह नहीं है। इसी तरह सगुणके विषयमें मेरी दृष्टिमें मुझे विकल्प नहीं दिखायी देता। मेरी मान्यता, धारणा, सिद्धान्त आदि सबसे बढ़कर लगता है। दूसरोंको मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही कर लेना चाहिये। सब रूप परमात्माके स्वरूप हैं—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

रामचरितमानसमें भगवान् राम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वेद भी ऐसा ही कहते हैं। भगवान्‌से सबकी उत्पत्ति हुई है। सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। भगवान् ही सबकी आत्मा हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

प्रवचन दिनांक—९-५-१९५९, गीताभवन, स्वर्गाश्रम।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(गीता ९। २४)

सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

हमलोगोंमें श्रद्धा, विश्वासकी कमी है। हम श्रद्धा मानते हैं, पर हमारी संशययुक्त श्रद्धा है।

उत्तम श्रद्धा यह है कि मैंने कहा कि भगवान् सबमें हैं और आपलोगोंको सबमें भगवान् दीखने लग जायँ। यदि भगवान् हमें मिल जायँ तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है, इसी तरहसे स्त्रीको पतिमें, बालकको माता-पितामें, गुरु, अतिथि, गाय आदिमें भगवान्

दीखने लग जायँ तो कितनी प्रसन्नता हो। वृक्षमें जल डाले तो उतनी ही प्रसन्नता होनी चाहिये। यदि उतनी प्रसन्नता नहीं होती है तो श्रद्धा, विश्वासकी कमी है। भगवान् सबकी आत्मा हैं, भगवान् सबमें विराजमान् हैं। यह बात गीतामें जगह-जगह लिखी है। यदि उतना सुख सेवा करनेसे नहीं मिलता है तो भावकी कमी है। जब भगवान् सबकी आत्मा हैं, सबमें भगवान् हैं, तब हमें कितना आनन्द होना चाहिये। साधकको यह मानना चाहिये कि भगवान् सबमें हैं। माननेकी कमी है। किसी अंशमें मानते भी हैं।

पहले श्रद्धा, विश्वास करो, फिर निश्चयपूर्वक दृढ़ मान्यता रखनेपर वह बात प्रत्यक्ष दीखने लग जाती है। एक महात्माके पास एक सगुण उपासक गया। उसको महात्माने कहा कि भगवान् सब जगह हैं। महात्माने कहा—पुष्प ले आओ। वह वाटिकामें गया, किन्तु फूल नहीं तोड़ सका। उसको सब जगह भगवान् दीखने लग गये। जो फूल वृक्षमें लगे थे, उसको प्रतीत हुआ कि भगवान्पर ही ये फूल चढ़े हुए हैं, अतः वह उनको तोड़ नहीं सका।

सभी भगवान्के स्वरूप हैं, यह बात मान लो। यदि यह मान्यता नहीं हो सके तो सबमें भगवान् हैं यह मान लो। यह भी नहीं हो सके तो सब भगवान्की विभूति हैं, ऐसा मान लो।

भगवान्ने अपनी विभूतियाँ बतलायी कि सबकी आत्मा मेरी आत्मा है। सब प्राणियोंके आदि, मध्य, अन्तमें मैं ही हूँ, यह सामान्य भावसे कह दिया। फिर कहा सबमें भगवद्-बुद्धि नहीं हो तो विष्णुमें भगवद्-बुद्धि करो। सब नक्षत्रोंमें भगवद्-बुद्धि नहीं हो तो चन्द्रमामें भगवद्-बुद्धि करो। आगे कहा सारा ब्रह्माण्ड मेरे एक अंशमें है, जैसे समुद्रके एक अंशमें बुदबुदा होता है।

अपने सिद्धान्तमें दृढ़ रहे

अपना सिद्धान्त जो बनावे उसमें दृढ़ रहे। सिद्धान्तसे उद्देश्य बनता है। सिद्धान्त मूल है। उद्देश्य ढाल है। क्रियामें जप, ध्यान, स्वाध्याय एवं सत्संग हैं तथा भावमें श्रद्धा एवं निष्काम प्रेम।

भगवान्‌को हर समय याद रखना यह सबसे मूल्यवान् बात है। काम, क्रोध, लोभ, व्यभिचार दुर्गुण हैं तथा नम्रता, प्रेम, सत्यभाषण आदि गुण हैं जप, ध्यान, सत्संग आदि करनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है एवं दुर्गुणोंका नाश होता है।

प्रश्न—ध्यान नहीं होता है, केवल जपसे यह हो सकता है क्या?

उत्तर—केवल जपसे हो सकता है। जप निष्काम होना चाहिये। श्रद्धा, प्रेम यदि साथमें हो तो और भी शीघ्र कार्य हो सकता है। ध्यान साथमें रहे तो बहुत शीघ्र हो सकता है।

मान-बड़ाई आदिका त्याग अपने यहाँ छोड़कर दूसरी जगह बहुत कम देखनेमें आता है। अपना सिद्धान्त बना लेनेपर वैसे ही करना चाहिये। जैसे डॉक्टरकी औषधि मैं नहीं लेता। यदि डॉक्टर कहे इसको लेनेसे शीघ्र लाभ होगा तो भी नहीं लेता। ऐलोपैथी औषधि लेनेकी अपेक्षा नहीं लेना उत्तम है।

मनुष्यमें जितनी क्षमता है, वह उतना ही भगवान्‌के समीप है। बीमारीमें यदि ज्ञानी स्वस्थ हो रहा है तो उसे हर्ष नहीं है, यदि रोग बढ़ता है तो उसको शोक नहीं होता। वह दोनों अवस्थाओंमें समान रहता है।

दूसरोंके दोष न देखने चाहिये, न कहने चाहिये, न सुनने

प्रवचन दिनांक—४-२-१९५९, प्रात:काल ८ बजे, गीताभवन, स्वर्गाश्रम।

चाहिये। ऐसा करनेसे उसके पापका हिसाब उसको ही भोगना पड़ेगा। इसमें तीन दोष आते हैं। उन दोषोंके संस्कार मनमें जम जाते हैं। जब वैसा वातावरण आता है तो वे संस्कार जाग्रत् होकर उसको उन बातोंकी याद आती है, जिससे उसका पतन होता है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ अशुद्ध हो जाते हैं।

गीताके एक श्लोकके अनुसार भी जीवन बना ले, उसी समय भगवान् मिल जायँ। यह जो संसार आपको दीखता है, उसकी जगह भगवान् दीखने लग जायँ। उसी समय भगवत्-प्राप्ति है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान्‌से बढ़कर और कोई चीज नहीं है, इतनी बात मान लेनेपर बेड़ा पार है। इसकी पहचान क्या है?

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी यदि मनमें इच्छा है तो वह अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं है। भगवान् केवल भगवान्‌के ही मिलनेकी तीव्र इच्छा होनेसे मिलते हैं।

संसारके पदार्थ इच्छा करनेसे नहीं मिलते। केवल भगवान् ही ऐसे हैं जो इच्छा करनेसे मिलते हैं। तीव्र इच्छा हो जाय तो अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है।

भगवान्‌के सिवाय यदि दूसरोंको भजे तो भगवान्‌को सबसे उत्तम कहाँ माना।

यदि आप मुझे सबसे बढ़कर महात्मा मानें तो फिर आपको दूसरे महात्माकी आवश्यकता नहीं है। यदि दूसरे महात्माकी आवश्यकता है तो आपने मुझे सबसे ऊँचा महात्मा कहाँ माना। अतः जो पूरा लाभ होनेवाला है, वह नहीं होगा, क्योंकि आपकी भावना पूरी नहीं है।

आप पीपलमें एक लोटा पानी डालते हैं। यदि आपका यह भाव हो जाय कि भगवान्‌को पानी पिला रहे हैं तो उसी समय भगवान् प्रकट हो जायँ। उसकी पहचान क्या है?

भगवान्‌को पानी पिलानेके समय जो प्रसन्नता होती है, वही प्रसन्नता होनी चाहिये। यदि वह प्रसन्नता नहीं होती है तो आपने भगवान्‌को पानी नहीं पिलाया। परमात्मा सबमें व्यापक हैं, सबकी सेवा परमात्माकी सेवा है। हम जो काम करते हैं उसमें यह भाव होना चाहिये कि उसको सुख कैसे पहुँचे। चाहे जूता

बेचे, चाहे पुस्तक बेचे, चाहे औषधि बेचे—बात एक ही है, हम भगवान्‌का कार्य कर रहे हैं। भगवान्‌के सुखके लिये कर रहे हैं। अपना उसमें कुछ भी स्वार्थ नहीं है। हमारे घरमें कोई अतिथि आये और हमारा भाव हो जाय कि भगवान् आये हैं। भाव सोलह आना होना चाहिये, भावमें कमी नहीं रहनी चाहिये। आपको उसी समय भगवान् मिल जायँगे।

मान लो एक गाय खड़ी है और उसे आप रोटी खिला रहे हैं। यदि आपका यह भाव है कि भगवान्‌को रोटी खिला रहे हैं और आपको उतना ही आनन्द आ रहा है, जितना भगवान्‌को रोटी खिलानेमें आता है तो उसी समय प्रसन्नता बढ़कर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

मैं गीता एवं शास्त्रोंका प्रमाण इसलिये देता हूँ कि आपकी इतनी श्रद्धा नहीं है, नहीं तो प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

माता-पिता, गुरु, अतिथि, पतिमें भगवद्-भावकी अधिक गुंजाइश है। पतिके आचरण चाहे कैसे ही हों, वह स्त्रीके लिये भगवत्स्वरूप है। जो भगवद्-भाव करेगा, उसीका कल्याण होगा। गीताका कोई भी श्लोक ले लो, बेड़ा पार है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो। इसमें चार बातें हैं—

१-कर्ममें तेरा अधिकार है, २-फलमें तेरा अधिकार नहीं है, ३-कर्मफलका हेतु मत बन, ४-कर्म न करनेवाला भी मत बन।

ऐलोपैथी औषधि नहीं लेनी चाहिये, चाहे कुछ भी हो। वैद्यकी औषधि भी शास्त्रोक्त शुद्ध हो तो लेनी चाहिये, अन्यथा नहीं लेनी चाहिये। होना तो वही है जो भगवान्‌ने रच रखा है।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।

जो होता है, वह प्रारब्धका फल है। भगवान्‌का विधान मानकर हर समय सन्तुष्ट रहे। हर समय आनन्द माने। रोग होना पापका फल है। बीमारी भुगत ली, पाप कट गया।

रोगके द्वारा भगवान् मृत्युको याद दिलाते हैं, चेताते हैं कि मृत्युके समय क्या करना चाहिये। उसके लिये सोचो।

भविष्यमें पाप करनेमें रुकावट होती है। सोचता है अभी दुःख भोग रहा हूँ, यदि फिर पाप करूँगा तो भविष्यमें फिर दुःख भोगना पड़ेगा।

यदि उसको परम तप मान लिया तो परम तप हो गया अर्थात् मुक्ति हो जाती है।

माता, पिता, गुरु आदिकी सेवा परमधर्म है। अन्य बाकी सब उपधर्म है। जो इनकी सेवा करता है, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है।

किसी बच्चेको भी गाली नहीं देनी चाहिये। शास्त्रोंकी बातें अमृत हैं। देवताओंका अमृत थोड़े दिन अधिक जीवित रखता है, पर यह अमृत सदाके लिये मुक्त कर देता है।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट आदि जो पाप हो गये हैं, यदि मनुष्य भविष्यमें नहीं करे और भगवान्‌की शरण हो जाय तो सारे क्षमा हो जाते हैं। धर्म अमृत है।

प्रश्न—लोग अमृत क्यों नहीं चाहते?

उत्तर—रोगी कुपथ्य क्यों करता है। पथ्य अमृत है, पर

अमृतको त्यागकर वह कुपथ्य चाहता है। इसी प्रकार ही अमृतको त्याग देता है।

हम तो सेवा करनेके लिये बैठे हैं। कोई वस्तु खरीद ले तो भी आनन्द, नहीं ले तो भी आनन्द। बिका हुआ माल वापस लेनेमें सबसे अधिक आदर, आनन्द होना चाहिये। जो ग्राहक माल ले जाय उससे व्यवहार करनेमें जैसी प्रसन्नता हो, उससे अधिक प्रसन्नता उसके साथ होनी चाहिये जो माल नहीं ले तथा जो वापस लाये उससे व्यवहार करनमें सबसे अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। जो माल नहीं ले, केवल तंग करे तो समझना चाहिये कि भगवान् परीक्षा ले रहे हैं। इसका भी तो समय लगता है। उसका मूल्य समझना चाहिये।

नाम भिन्न-भिन्न पर तत्त्व एक

दो बात मेरे सामने हैं। पहली निर्गुण-निराकार परमात्माके ध्यानकी बात आप सुनना चाहते हैं। दूसरी नाना प्रकारके मतोंका सामञ्जस्य।

अपने यहाँ सभी विषय कहे जाते हैं। भगवान्‌को सभी विषय प्रिय हैं। मैं किसीका खंडन नहीं करता हूँ। यों प्रकरणपर कोई बात आ जाती है, तब चर्चा चल पड़नेकी बात दूसरी है।

यह बात अवश्य मालूम देती है कि मनुष्यको अपना सिद्धान्त जितना प्रिय होता है, उतनी प्रिय कोई भी चीज नहीं होती। देहतक इतना प्रिय नहीं होता।

विवेकद्वारा निश्चित की हुई बातका ही ध्यान देना चाहिये, क्योंकि मनकी रुचि आसक्तिवश गड़बड़ भी कर देती है। विवेकसे जो निर्णय हो, उसीके अनुसार कार्य करना चाहिये। जहाँ मन-बुद्धिमें भेद न रहे, उसकी तो बात ही नहीं है।

वास्तवमें जो वस्तु है वह तो एक ही है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबके लिये वह एक ही है। संसारमें मत, धर्मके नामसे जितने प्रचार हो रहे हैं, सभी परमात्माकी प्राप्ति करा सकते हैं, ऐसी बात नहीं है। कितने ही तो ऐसे मालूम होते हैं जो अपनी मान-बड़ाईकी प्राप्तिके लिये चलाये हुए हैं। स्वार्थियोंके चलाये हुए मत तो अन्धेके द्वारा अन्धेको लेकर गड्ढ़ेमें गिरनेवाले-जैसे हैं। दम्भी मनुष्य ओट देखते हैं। वे जहाँ पोल देखते हैं, घुस जाते हैं। अच्छे लोगोंके मतमें भी घुस जाते हैं।

प्रवचन दिनांक—२८-३-१९४१, प्रातःकाल, श्रीजीका बगीचा, वृन्दावन।

पाखंडका प्रचार संसारमें क्यों हो रहा है? भगवान् उसको रोकते क्यों नहीं? बात यह है कि जो भगवान्‌पर अपनेको छोड़ देते हैं, उनकी भगवान् रक्षा करते हैं। पर यों भगवान् उदासीन रहते हैं, वे किसीको रोकते नहीं। यदि भगवान् रोकते तो अबतक हमलोगोंका उद्धार हो गया होता।

चोरी, झूठ, कपट करनेवालोंको भी भगवान् नहीं रोकते। भगवान्‌के कानूनके विरुद्ध लोग नाना प्रकारके पाप कर रहे हैं। भगवान् किसीका हाथ नहीं पकड़ते। स्वतन्त्रता दी हुई है। पाप करनेवालोंको दण्ड देते हैं।

संसारमें चारों ओर दम्भ फैल रहा है। भगवान्‌के नामपर कोई रुपये लेता है, कोई मान-बड़ाई चाहता है। कहीं परमात्माकी शरण होती है तो ठीक मार्गपर आ जाते हैं, कहीं पोल नहीं खुल पाती।

अब वास्तविक सिद्धान्तकी बात कही जाती है। सब मार्ग उसे पकड़ानेवाले हैं। सिद्धान्त ही कहा जाता है, पर है यह मार्ग।

साधनावस्थामें जिसकी जिस साधनमें श्रद्धा है, उसीको दृढ़ करना चाहिये। भगवान्‌ने भी यही कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(गीता ७। २१)

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ।

मैं उसी देवतामें श्रद्धा दृढ़ कर देता हूँ। श्रद्धारूपी पौधा है, उसे उखाड़ना अपने हाथमें है, पर उसे जमाना अपने हाथमें नहीं

है। कोई भाई ॐ, कोई राम, कोई कृष्ण, कोई **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय** का जप करता है। जो जिस मंत्रका जप कर रहा है, उसे ही जपता रहे। यही ठीक मालूम देता है। किसीको भी परिवर्तन करनेकी बात नहीं कही जाती। कोई बात उसमें सुधारकी होती है तो कही जाती है, पर परिवर्तनकी बात नहीं कही जाती।

संसारमें दो मार्ग मुख्य हैं—भेद और अभेद। अमेरिका जानेवाले पूर्व-ही-पूर्वमें जायँ तो भी पहुँच जाते हैं। पश्चिम-ही-पश्चिम जायँ तो भी पहुँच जाते हैं। लक्ष्य अमेरिकाका हो फिर चाहे जैसे जायँ, वहाँ पहुँच जाते हैं। किसीको रास्तेमें थोड़ी कठिनाई पड़ती है, पर अन्तमें पहुँच जाते हैं। जितने सिद्धान्तके नामसे प्रचलित हैं—सब मार्ग हैं। तर्ककी कसौटीपर उनको सिद्धान्तके नामसे कहकर हम कसेंगे तो सब रुक जायँगे, अतः तर्ककी कसौटीपर न कसकर श्रद्धासे मानना चाहिये। यदि हम तर्क ही करेंगे तो नास्तिक हो जायँगे। श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होती तो भगवान् बार-बार श्रद्धा-श्रद्धा क्यों कहते। यदि केवल तर्कके बलपर सिद्धान्त ठहर जाते तो नास्तिकोंकी दाल गल ही नहीं सकती। कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जो शान्तिपूर्वक आपको निरुत्तर कर सके। ज्यादा पूछेंगे तो उखड़ जायँगे, आप चुप हो जायँगे।

अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार सब ठीक हैं, भगवान्की ओर ले जाने वाले हैं। तर्ककी दृष्टिसे विचार करेंगे तो सब झूठे हैं। कोई नहीं ठहर सकते, तब क्या करें? जिस एकपर श्रद्धा हो, उसको मानकर चलना प्रारम्भ कर दो, जहाज चलाओ, अमेरिका पहुँच जाओगे। यदि केवल तर्क ही करते रहोगे तो रह ही जाओगे।

शाखा-चन्द्र-न्याय—चन्द्रमा पेड़की डालसे एक इंच ऊँचा है, ठीक सफेद-सफेद खड़िया मिट्टीकी लकीर जैसा है, यहाँ खड़े होकर देखो। मेरी आँखोंसे देखो। दूसरा बोला—उस बादलके पास है, देखो तो दिख गया। किसीको पक्षीके सहारे, किसीको मकानकी चहारदीवारीके सहारे दीखा। किसीको कोई मार्ग सुगम है, किसीको कोई सुगम। प्रकृति भिन्न एवं बुद्धि भिन्न होनेसे अलग-अलग मार्ग बतलाये गये हैं।

वास्तवमें तत्त्वसे विचार करो तो जितनी बातें चन्द्रमाको दिखानेके लिये कही गयीं, सब झूठ हैं। चन्द्रमा न मकानसे चार अंगुल ऊँचा है, न वृक्षकी डालीसे एक इंच ऊँचा है। वह तो लाखों कोस ऊपर है। न खड़िया मिट्टीकी लकीर जैसा है—यह सब बातें ठीक न होनेपर भी चन्द्रमा ठीक है, सच्चा है और उसे देख लिया गया। वाणीकी इतनी शक्ति नहीं कि सच्ची बात बतलायी जा सके। मनमें जो बात आती है, उसे समझाया नहीं जा सकता। वाणीकी शक्ति नहीं कि उसे समझा सके। बुद्धिमें भी वह तत्त्व नहीं समा सकता।

जिसको चन्द्रमा दीखा है, उसे जो कोई भी दिखलाता है, युक्ति बतलाता है, सबका आदर करना चाहिये। कोई वृक्षका फल तो है नहीं कि तोड़कर ला दे। **दूरस्थं चान्तिके च तत्।** भगवान् दूर-से-दूर एवं निकटसे भी निकट हैं। अश्रद्धालुके लिये दूर हैं। श्रद्धालुके लिये निकट हैं, महात्माको तो प्राप्त ही हैं, अज्ञानीके लिये दूर हैं। भगवान् अपनी दृष्टिसे सब समय, सब जगह उपस्थित हैं। महात्माओंकी दृष्टिसे बहुत निकट हैं। देश, काल, वस्तु, श्रद्धा, ज्ञान सब दृष्टियोंसे भगवान् दूर-से-दूर एवं निकट-से-निकट हैं।

जिन पुरुषोंको चन्द्रमाका दर्शन हो गया है, वही पुरुष दिखला सकते हैं। जिसको स्वयंको ही नहीं दीखा, वह दूसरोंको क्या दिखलायेगा। उसको तो स्वयंको ही पता नहीं। जो लोग दूसरोंको भरमाते हैं उनकी क्या दशा होगी? नीची-से-नीची दशा होगी। वास्तवमें यदि शास्त्र सत्य हैं तो सबसे खराब दशा उसकी होगी। जो बेचारा भ्रममें पड़ता है, उसकी क्या दशा होगी? यदि वह भगवान्‌की शरण है, भगवान्‌के भरोसेपर है तो उसको भगवान् बचा लेते हैं। यदि इतनी शक्ति भगवान्‌की नहीं है तो उस भगवान्‌को माननेसे भी क्या लाभ? भगवान् उसकी अवश्य रक्षा करते हैं जो भगवान्‌के आश्रित है। पर जो भगवान्‌को मानते नहीं—***मैं हूँ तेरी आत्मा काको करौं प्रणाम*** उनके लिये भगवान् बिना बुलाये पंच नहीं बनते। दंभी व्यक्ति सदासे ही संसारमें हैं। श्रीहनुमान्‌जी कालनेमिके भ्रममें पड़ गये, भगवान्‌ने बचा लिया। चाहे लीला ही हो, पर महारानी सीता भी रावणके चक्करमें आ गयीं। मनुष्य ही नहीं, देवता भी चक्करमें पड़ गये। राहुने जाकर अमृत पी लिया। ईश्वर कोटि वाले भगवान् शंकर, ब्रह्माजी भी मोहित हो गये। पार्वतीजी भी मोहित हो गयीं। बचा कौन? एक परमात्माको छोड़कर सब भ्रममें पड़ गये। विनोदसे भगवान् भी राधाजीके प्रेममें पड़कर मोहित हो गये। यह लीला है। तुलसीदासजी कहते हैं—

सिव बिरंचि कहुँ मोहई को है बपुरा आन।

सर्वोपरि चीज एक है। उसका नाम चाहे विष्णु रख दो, चाहे शिव रख दो, अल्लाह, गॉड जो चाहो सो कह दो। उसे प्राप्त करना है। शिवभक्तोंके लिये वह शिव है। विष्णुभक्तोंके लिये विष्णु एवं शक्तिभक्तोंके लिये शक्ति है। वह तीनों ही लिङ्गोंके

रूपोंमें जगह-जगह वर्णित है। वस्तु एक है, किसी नाम, रूपसे कह दो। नाम, रूप समझानेकी प्रणालियाँ हैं। जैसे चन्द्रमाको समझानेकी अनेक युक्तियाँ हैं।

ब्रह्मपुराण, शिवपुराण, अग्निपुराण, गणेशपुराण, देवीपुराण—इन सब पुराणोंमें उपास्य अलग-अलग बतलाये गये हैं, पर लक्ष्यार्थ सबका एक है। शिव, गणेश, देवी, विष्णु सबमें केवल नाम, रूप अलग-अलग बतलाये हैं, वर्णन वास्तवमें उस एक सच्चिदानन्दघनका है। पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर परमात्मा ही शिव, विष्णु, देवी, गणेश सब नामोंमें वही पूजा जा रहा है। वेदोंमें अग्नि, सूर्य, प्राण आदि नामोंसे ब्रह्मकी ही स्तुति की गयी है।

संसारमें बुद्धि विचित्र और भिन्न है। सबको एक सूत्रसे बाँधनेके लिये, उन्हींकी मान्यताको रखनेके लिये, उनके ही नाम-रूपको कायम रखकर लक्षण सबके ब्रह्मके दिये, वही सर्वोपरि इष्ट समझनेके लिये कह दिया। इष्टको सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर मानो, सर्वोपरि मानो, नाम चाहे देवी रखो, चाहे भैरव, चाहे गणेश, चाहे गौरांग रखो। रूप जो भी कुछ रखो। उसे सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान् मानो। निराकार, साकार सबसे श्रेष्ठ उसे ही समझो। बस उस परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

एक लौकिक दृष्टान्त—जंगलमें एक गड़ेरिया भेड़ चराया करता था। वहाँ जंगलमें एक मन्दिर था। वह पुजारीको पूजा करते हुए देखता तो उसे अच्छा लगता था। एक दिन उसने पुजारीसे कहा—दादा! मुझे भी कोई मंतर-वंतर बता दो। पुजारीने ध्यान नहीं दिया। उसके हठ करनेपर पुजारीने झुँझलाकर उसे 'भैंसका सींग लपोड़ नाम' जपनेके लिये कह दिया। उसने पूछा—भगवान् देखनेमें कैसे हैं। पुजारीने कहा—मेढ़ा जैसे।

गड़ेरिया दिन-रात वही मंत्र जपने लगा। एक दिन भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ उस जंगलसे जा रहे थे। लक्ष्मीजीने पूछा—प्रभु! यह किसके नामका जप कर रहा है। भगवान्‌ने कहा—मेरे नामका। लक्ष्मीजीने कहा—यह नाम तो किसी पुस्तकमें नहीं देखा। भगवान् बोले—मेरे बहुत-से नाम अभी प्रकट ही नहीं हुए हैं। यह भी मेरा ही नाम है। लक्ष्मीजी परीक्षा करने गयीं। उससे पूछा—किसके नामका जप कर रहे हो? गड़ेरिया जपमें लीन हो रखा था। उसे लक्ष्मीजीका बात करना अच्छा नहीं लगा। उसने चिढ़कर कहा—तेरे पतिका। लक्ष्मी सोचीं यह तो मुझे भी पहचान गया तथा भगवान्‌से जाकर कहा कि यह वास्तवमें आपका भक्त है। इसे दर्शन देना चाहिये। भगवान्‌ने उसे चतुर्भुज-रूपमें दर्शन दिये। उसने पूछा—तुम कौन हो? भगवान्‌ने कहा—मैं भगवान् हूँ। गड़ेरिया बोला—चल भगवान् कहींका। भगवान् ऐसे थोड़े ही होते हैं। दादाने मुझे बताया है, भगवान् मेढ़ा जैसे होते हैं। भगवान्‌ने मेढ़ा बनकर उसे दर्शन दिया, फिर अपना चतुर्भुजरूप दिखाकर उसे तत्त्व समझाया। बादमें वह दौड़ा-दौड़ा पुजारीके पास गया और बोला—दादा! भगवान् आज आये थे। उनके चार हाथ थे। ऊपरके एक हाथमें तो चकरी जैसा था। एक हाथमें जो तुम सफेद-सफेद बजाते हो वह था। नीचे एक हाथमें सोटकी थी और एक हाथमें फूल था। सिरपर ऊँची-सी चोंचदार टोपी पहन रखी थी। पुजारीने सोचा यह भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन कर रहा है। वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा—मुझे भी दर्शन करवाओ। गड़ेरिया बोला—चलो। जंगलमें लाकर बोला—भगवान् यह रहे। पुजारीने कहा—मुझे तो नहीं दीखते। गड़ेरिया भगवान्‌से बोला—आप दादाको क्यों नहीं

दीखते? भगवान् बोले—मेरा दर्शन श्रद्धा और प्रेमके अधीन है। पुजारीमें श्रद्धा और प्रेम नहीं है। गड़ेरिया बोला—मैं यह सब नहीं जानता, आपको दर्शन देना पड़ेगा। उसके हठ करनेपर भगवान्ने पुजारीको भी दर्शन दिये। भगवान्की प्रतिज्ञा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११। ५४)

हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।

शिवाङ्कका शिव, शक्तिअङ्ककी शक्ति, कृष्णाङ्कके कृष्णके बारेमें मेरे लेखमें एक ही परमात्माकी बात कही गयी है।

नाम, रूप, मार्ग अलग-अलग होते हुए भी वास्तवमें एक ही है। जो लोग एक-दूसरेकी निन्दा करते हैं, वे वास्तवमें परमात्माके ही एक अंगकी निन्दा करते हैं। निन्दा करनेवाला स्वयं ही निन्दनीय है। प्रकरणके अन्दर पूछनेपर जैसी बात जँची वह कह देना दूसरी बात है। यदि मौकेपर ही टाल दे तो और भी उत्तम है।

प्रश्न—पहले दूसरा इष्ट हो। पीछे सुनकर दूसरी ओर लग जाय तो कोई दोष है क्या?

उत्तर—प्रश्न बहुतोंके कामका है। मैं छोटा था, हनुमान्जीकी सकाम उपासना की, पीछे शिवजीकी की, फिर रामजीकी की, फिर विष्णुजीकी की। हमारी बुद्धिमें जब यह बात आ जाय कि इसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है तो फिर उस श्रेष्ठकी ही उपासना करनी चाहिये। हनुमान्जी रामजीको मिलानेवाले हैं, अतः हनुमान्जीको भक्तके स्थानपर मानना चाहिये। ईश्वरके स्थानपर

'राम' को ही मानना चाहिये।

दो प्रकारकी भक्ति है—केवल भक्ति एवं ज्ञान मिश्रित भक्ति। जैसे पतिव्रता सेवा तो सबकी करती है, पर पति केवल पति ही है। ऐसे ही श्रीकृष्ण हमारे इष्ट हैं। शिव आदि देवताओंको पूजनेसे श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होते हैं, इसलिये हम देवताओंको पूजें। जैसे पतिकी प्रसन्नताके लिये अतिथियोंकी सेवा करना। यह केवल भक्ति है। हमारे इष्ट भगवान्‌के ही सब रूप हैं, वही सब देवताओंके रूपमें बने हुए हैं, यह ज्ञान मिश्रित भक्ति है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

दोनों ही ऊँची श्रेणीकी भक्ति है। दोनोंमें ही व्यभिचार दोष नहीं है। व्यभिचार दोष—सब देवता अलग-अलग हैं। हमारे इष्टको जैसा मानते हैं, वैसा ही दूसरेको मानें। वेश्याकी तरह सबको एक समान मानना यह व्यभिचारका दोष है।

अन्य देवताओंको भगवान्‌का भक्त मानकर उनसे भगवान्‌के दर्शन चाहना दोषकी बात नहीं है। देवताओंसे हम भोग, पुत्र आदि स्वार्थ चाहने लगें तो व्यभिचारकी बात है। अतिथियोंकी सेवा भी करे और उनसे भोग भी चाहने लगे तो यह व्यभिचार है। जो कुछ चाहिये पतिसे ही माँगे, दूसरेसे नहीं। न माँगना,

निष्कामभाव रखना सर्वोपरि है। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये लेना पड़े तो दूसरी बात है। प्रह्लादने स्पष्ट कह दिया कि मैं वैश्य नहीं हूँ। भक्तिके बदले आपसे वर माँगना तो वणिक्-वृत्ति है। फिर भी भगवान्ने कहा माँगो तो प्रह्लादने कहा—मेरे मनमें माँगनेकी इच्छा न होती तो आप क्यों कहते माँगो। अतः माँगनेकी इच्छा ही न रहे।

पतिसे माँगना—निष्कामकी अपेक्षा नीची श्रेणी है, दोषकी बात नहीं है।

देवताओंकी सकाम उपासना भी उपासना न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ऊँची बात है।

नास्तिकोंसे तो वह भी अच्छा है, जो देवताओंकी, भगवान्की भक्तिका विरोध नहीं करता। चुपचाप रहता है।

श्रद्धा बनी रहेगी तो उद्धार होनेकी सम्भावना है। मूल कट गया तो वृक्ष ही गिर पड़ेगा, इसलिये भगवान्ने कहा जो जिसको पूजता है, मैं उसकी श्रद्धा वहीं दृढ़ करता हूँ।

मुझे किसी भी सम्प्रदायकी उपासना करनेवाला कोई भी पूछे तो उसको उसीमें श्रद्धा करनेकी बात कही जाती है। कहीं कोई सकाम, निष्कामकी बात पूछे तो बतायी जा सकती है। पर उसकी श्रद्धा जहाँ है, वहीं दृढ़ करनी चाहिये। कहीं निष्कामके तत्त्वको न समझे और सकाम छोड़ दे, यह ठीक नहीं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

(गीता ३। २५-२६)

हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे।

अज्ञानीको ज्ञानवान्‌का भाव लेना चाहिये। ज्ञानवान्‌को उचित है कि अज्ञानीकी क्रिया ले।

नाम-जप मानसिक हो तो अच्छा है, वह न हो तो श्वाससे एवं वह भी न हो तो वाणीसे ही करना ठीक है। ध्यान भी हृदयमें हो तो बहुत अच्छा है, अन्यथा बाहर करना ही अच्छा है।

सभीकी मुक्ति सम्भव

भीतरके त्यागसे ही कल्याण होता है। यदि बाहर भीतरका दोनों हो तो सोनेमें सुगन्ध हो जाती है।

सभी आश्रमोंमें कल्याण होता है। मनुष्य-मात्रका होता है। साधन करनेसे होता है। महात्माओंकी दयासे होता है। दया सभीपर सदासे है ही, अतः श्रद्धा, प्रेम, साधनपर ही कल्याण अवलम्बित रहा।

जो लोग यह मानते है कि गृहस्थाश्रममें कल्याण नहीं होता, उनकी यह बात माननीय नहीं है। युक्तिसे, तर्कसे किसी तरह भी यह बात ठीक नहीं लगती। हम इस बातको मानेंगे तभी तो कल्याणके लिये साधन करेंगे, प्रयत्न करेंगे। यदि हम इस बातको मानेंगे ही नहीं तो प्रयत्न करेंगे ही नहीं कि गृहस्थका कल्याण होता ही नहीं, फिर क्यों चेष्टा करें।

एकनाथजी, नरसी मेहता, कबीरजी, मीरा सब गृहस्थ ही थे। उदाहरण, शास्त्र एवं युक्ति सबसे यह बात सिद्ध होती है। यदि यह बात सही न हो तो भी इसको माननेमें हमारी कोई हानि नहीं है। हम भजन, ध्यान करेंगे, हमारा लाभ ही होगा। भगवान् कहते हैं—मनुष्य-मात्रका शरीर मुक्तिका द्वार है। गीतामें जगह-जगह कहा है। योग, वेदान्त, सब कहते हैं। शूद्रकी मुक्ति सिद्ध है। अतः यह सिद्ध हो गया कि परमात्माकी प्राप्ति सभी वर्ण, आश्रममें सबको हो सकती है।

मुक्तिके विषयमें जैनी भाई लोग कहते हैं कि यह पाँचवाँ आरा है। इस समय मुक्ति नहीं होती, इस देशमें भी मुक्ति नहीं होती, मध्य क्षेत्रमें होती है। उनकी यह बात मुझे मान्य नहीं है।

प्रवचन दिनांक—२८-३-१९४१, दोपहर, श्रीजीका बगीचा, वृन्दावन।

कलिजुग सब जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

मुक्तिके विषयमें कलियुगके समान कोई युग नहीं है। वेदव्यासजीने तीन बार कहा—कलियुग धन्य है, धन्य है, धन्य है। कलियुगमें केवल भगवान्‌के कीर्तनसे ही कल्याण होता है। युक्ति, शास्त्र, सब तरहसे विचार करना चाहिये। आत्माका उद्धार, परमात्माकी प्राप्ति ज्ञानसे ही बतलायी गयी है। तब देश कालकी रुकावट कैसे हो सकती है। उन लोगोंका यह सिद्धान्त बहुत ही खतरनाक है। उन्होंने अपने लिये फाँसी लगाकर मरनेका सा काम किया है; क्योंकि जब वे मानते ही नहीं, तब उनकी मुक्ति हो ही नहीं सकती। उनका निश्चय उनकी मुक्ति नहीं होने देगा। इस सिद्धान्तको माननेसे उनका क्या लाभ होगा? जब कल्याण ही नहीं है, आत्माका उद्धार ही नहीं हो, वह सिद्धान्त किस कामका। तर्कसे मानें, तो भी मुक्ति नहीं होती, यह सिद्धान्त माननेवालोंकी सब प्रकारसे हानि ही होनी है। उन्हें सब प्रकारसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। फिर क्या हाथ लगेगा।

अद्वैत-अभेद मार्गको ही कुछ लोग ज्ञान मानकर उससे ही कल्याण मानते हैं। और कोई दूसरा उपाय है ही नहीं, ऐसा मानते हैं। वे लोग कहते हैं कि कर्मयोगसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, फिर उपासना करते-करते आगे जाकर अभेदमें जाना पड़ेगा, उसीसे मुक्ति होगी। दूसरा कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌के नाम, रूप, गुणोंके कीर्तन, भगवदर्थ कर्मयोग या भक्तिसे मुक्ति न होगी। विचार करें—

वेदान्तके मार्गसे कल्याण माननेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। उनका सिद्धान्त उनके लिये युक्तिसंगत है, परन्तु निष्काम

कर्मयोगसे भी आत्माका कल्याण होता है। भक्तिमार्गसे भी आत्माका कल्याण होता है। वेदान्तकी बात हम मानते हैं, पर भक्तिवालोंके रास्तेमें वे रुकावट क्यों डालते हैं। उसे नीची सीढ़ी क्यों बताते हैं। तुलसीदासजीने कहा है—

भक्ति स्वतन्त्र सकल गुन खानी।
ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

गीता कहती है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२।५)

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

उपनिषद् कहते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ (कठ० १।३।१४)

जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और ज्ञानयोगको समान दर्जा दिया है। भक्तिको ऊँचा दर्जा दिया है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५।४-५)

संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

सांख्य और योग दोनोंमेंसे एकमें स्थित होनेपर दोनोंका फल मिल जाता है। कर्मयोग स्वतन्त्रतासे भी परमात्माको प्राप्त कराता है—यह बात भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं।

विचार करना चाहिये—दोनोंका फल एकसे मिलता है। यदि परमपदकी प्राप्ति केवल सांख्ययोगका फल है, फिर कर्मयोगका फल सांख्ययोग कैसे रहा।

दोनोंमेंसे किसी एकमें स्थित हो जाओ, यह कहना फिर कैसे उचित होता। इससे यह बात सिद्ध होती है कि दोनों साधन हैं, फल दोनोंका एक है। भगवान् कहते हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।

सांख्ययोगका साधन कठिन बतलाते हुए भगवान्ने कर्मयोगका साधन करनेवालेको शीघ्र ही भगवत्प्राप्तिकी बात कही है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ६)

हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १२)

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।

निष्काम कर्मयोगीको नैष्ठिकी शान्ति मिल जाती है, कामनावाला बँधता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(गीता २। ५१)

समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको

त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि कर्मयोगी अनामय पदको प्राप्त करते हैं। यदि भक्ति भी साथ हो जाय तब कहना ही क्या है? भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

पहले अध्यायको छोड़कर गीतामें ऐसी कोई अध्याय नहीं है, जिसमें भक्तिका वर्णन न हो।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। ९-१०)

हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते। हे अर्जुन! मुझ

अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत्‌को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

स्पष्ट कहते हैं कि भक्तिसे सब कुछ हो सकता है। चाहे सो मिल सकता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११। ५४)

हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला

में प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।

जानना, देखना, प्रवेश करना—सब काम भक्तिसे हो सकते हैं। चाहे सो ले लो—तीनों चीज हाजिर हैं। भगवान् बिना बनाये पंच नहीं बनते। वे '**मय्यावेशितचेतसाम्**' का ही उद्धार करते हैं। दोनों प्रकारके साधकोंमें भगवान्‌ने भक्तिमार्गके साधकोंके लिये **ते मे युक्ततमा मताः** बतलाया। भेद साधकोंकी उत्तमता बतलायी। छठे अध्यायमें भी स्पष्ट कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

भगवान् सहायता करते हैं, बुद्धि देते हैं, योगक्षेम वहन करते हैं। फलमें श्रेष्ठता बतलाते हैं—निर्गुणके उपासकको ज्ञान और मुक्ति मिलती है पर सगुणके उपासकको भगवान्‌के दर्शन भी मिलते हैं—**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं** यह फलमें विशेषता है। निर्गुणके उपासकको दर्शन देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण बाध्य नहीं हैं।

सगुण उपासकको तत्त्वज्ञान भी हो जाता है, अतः दूसरोंको वे सबका उपदेश कर सकते हैं, पर निर्गुण उपासक भक्तिका उपदेश कैसे करेगा, उसे तो पता ही नहीं है। अतः इस हिसाबसे भी सगुणवाले ही श्रेष्ठ हैं। इनसे लोगोंको लाभ भी श्रेष्ठ है। प्रश्न उठता है कि लोग निर्गुण साधन क्यों करते हैं? अपनी-अपनी

प्रकृतिके अनुसार सब साधन करते हैं। एक उदाहरण— एक राजाके बीमारी हुई। वैद्यने पाँच सौ रुपयेकी औषधि लिखी, उसके सेवनसे राजा ठीक हो गया। नौकरको भी वही बीमारी हुई। वैद्यने कहा—आधे पैसेकी हरीतकी लाकर उसमें नमक मिलाकर रातमें खाकर सो रहो, आराम हो गया। राजाको पता लगा—वैद्यको बुलाया। मेरे लिये पाँच सौ रुपयोंकी औषधि क्यों बतायी? वैद्यने कहा—आपके लिये वही ठीक था, इसके लिये यही। अधिकारी भेदसे उपचार होता है। गीतामें बहुत-से उपाय बताये गये हैं। योगदर्शनमें मनके निरोधके कितने उपाय बताये गये हैं। एक ही उपाय क्यों नहीं बतलाया गया? लोगोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है, अतः भिन्न-भिन्न उपायोंकी आवश्यकता है।

योगदर्शनमें कई उपाय बताये गये हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः चित्तकी वृत्तियोंका रोकना योग है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

अथवा रागसहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

वीतराग न मिलें तो—**यथाभिमतध्यानाद्वा।**

अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँध जाती है।

आपकी दृष्टिमें जो अच्छा हो उसका ध्यान करो।

गीतामें भी अनेक उपाय बतलाये गये हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

(गीता ४। २८)

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

योगवासिष्ठमें भी बहुत उपाय बतलाये गये हैं। भागवतमें भी बहुत उपाय बतलाये गये हैं। जिसकी प्रकृतिमें जो ठीक पड़े—उसके लिये वही ठीक है। पूर्वजन्मके अभ्यासका भी सम्बन्ध रहता है। सारी बात सुना दो। जिसको जो रुचिकर पड़े, वही उसका अधिकारी है। रसोइया, सब चीज सुना देता है—रोटी, पूड़ी, फलका, भात, तरोई, आलू, बैंगन, गोभी, क्या लोगे। वह बोला—बस तरोई और पूड़ी। वह पूड़ी और तरोईके सागका अधिकारी था। यदि कहे जो आपके जँचे परोस दो। तब रसोइया स्वयं ही समझकर परोस देता है। वैद्यजी भी जब उनपर भार होता है तो सोच-समझकर औषधि देते हैं। एकसे लाभ नहीं हो तो बदल देते हैं। महात्मा लोग भी साधन बदल देते हैं। आचार्य पुरुषोंके बताये गये सभी साधन ठीक हैं। पूर्व-ही-पूर्व चले तो भी अमेरिका पहुँच जायँगे एवं पश्चिम-ही-पश्चिम चलें तो भी अमेरिका पहुँच जायँगे, पर चलना पड़ेगा। जो मार्ग सुगम प्रतीत हो, उसीपर चलना शुरु कर दे।

जो पुरुष जिस मार्गपर गया है, वह उसीकी व्याख्या करता है। उसीको वह श्रेष्ठ सर्वोपरि बतलाता है। यह ठीक भी है, पर दूसरा जो दूसरी तरह बतलाता है, उसकी निन्दा मत करो।

यदि कुछ विचार करनेकी आवश्यकता पड़े तो उदारतासे विचार करो। साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण सब भगवान्‌के ही रूप हैं, अतः किसी रूपकी निन्दा न करो। यह आंशिक रूपसे भगवान्‌की ही निन्दा है। निन्दा करनेवाला स्वयं ही निन्दनीय है।

झूठी निन्दा करनेवाला तो गिरता ही है, पर सच्ची निन्दा भी नहीं करनी चाहिये। उसमें भी अपना ही पतन है।

दूसरेकी न निन्दा करे, न स्तुति। यदि न रहा जाय तो अपनी निन्दा करो और भगवान्‌की स्तुति करो।

नाम तथा रूपकी पूजा कल्याणमें बाधक

मनुष्यके ऊपर उठनेमें मान-बड़ाईकी इच्छा बहुत बाधक होती है। मरनेपर मेरा नाम चले। इसी स्मृतिके लिये लोग स्मारक बनाते हैं। यह मामला गड़बड़ मालूम देता है। प्रायः यह बहुतोंमें ही रहता है। अच्छे-अच्छे साधु, नेता इस तरहकी व्यवस्था करते हैं कि स्मृति रहे। यह अन्धकारकी बात है।

कहनेका विशेष उद्देश्य यह है कि मैं या भाईजी मर जायँ तो पीछेसे किसीको हमलोगोंके लिये कोई स्मृति या स्मारक नहीं बनवाना चाहिये। मरनेके बाद मैं कहने कैसे आऊँगा। अतः अभीसे कह देता हूँ। भाईजीके लिये भी मैं कहता हूँ।

भगवच्चर्चाके लिये यह निषेध नहीं है। व्यक्तिगत नाम और रूपकी पूजाकी बात है। नाम, रूप तो मिटा ही दे।

प्रारम्भमें एक दो पुस्तकें तैयार हुईं तो मैंने नाम देनेका निषेध किया था। पीछे लेखोंमें भाईजीने छाप दिया और लेखोंकी पुस्तकें बन गयीं। इसके सिवा और किसी रूपमें नाम, रूपका प्रचार नहीं होने दें।

फोटो पूजना रूपकी पूजा है। स्मारक बनाना नामको पूजना है। ज्ञानी या भक्त कोई भी हो, जिनका नाम रूप प्रचलित होता है, लोग कहते हैं, यदि उनका वास्तवमें विरोध होता तो उनके अनुयायी लोग उनके नाम, रूपकी पूजा क्यों करते?

हमारे मरनेपर कोई हमारे लिये शोक सभा न करे। नाम, रूप कायम रखनेकी कोई चेष्टा न करे। जो लोग हमारे इस भावका प्रचार करेंगे वे ही हमारे अनुयायी हैं।

मंगलनाथजीमें जितनी मेरी श्रेष्ठ बुद्धि थी या है, उतनी मेरे

प्रवचन दिनांक—३०-३-१९४१, प्रातःकाल, श्रीजीका बगीचा, वृन्दावन।

जीवनमें किसी जीवित मनुष्यमें नहीं हुई। पर मैं उनके नाम या चित्रका प्रचार नहीं करता। उनके सिद्धान्तोंका प्रचार करता हूँ।

व्याख्यानके समय उनकी स्मृति हो जाती है, उनकी युक्तियोंका खयाल करके बातें भी कही जाती हैं, पर उनके नाम, रूपका प्रचार मैं कभी नहीं करता। उनका जो भाव था, उसीका हमें प्रचार करना चाहिये। यदि यह बात कही जाय कि उनके द्वारा मनाही की बात यों ही कहनामात्र था तो इसमें तीन दोष आते हैं—झूठ, कपट और दम्भ।

मेरा चित्र मेरे घरमें है। यदि मेरा शरीर पहले शांत हो जाय, मेरी स्त्री उसे रखना चाहे तो मेरा विरोध नहीं है, पर चित्र घरके बाहर न निकले। मुझे पूरा भरोसा है कि हरिकृष्ण या शिवदयाल कभी उस चित्रकी नकल किसीको नहीं लेने देंगे। एक चित्र श्रीज्वालाप्रसादजीके पास है। उनसे प्राप्त करनेकी पहले बहुत चेष्टा की गयी पर उनसे बहुत प्रेम था, उन्होंने नहीं दिया, यदि उनसे लिया जाय तो उनको बहुत दुःख होगा। इस कारण विचार होता है।

प्रश्न—भक्त या ज्ञानी किस दृष्टिसे ऐसी बात चाहते हैं?

उत्तर—भक्त तो अपने स्वामीकी ही पूजा चाहता है, उसीके नामका प्रचार चाहता है। वह नौकर नालायक है, बेईमान है, भगवान्‌को धोखा दे रहा है, जो भगवान्‌के बदलेमें अपने नाम-रूपको पुजवाता है। मालिककी दुकानपर अपना नाम चलानेवाला नौकर क्या मालिकको अच्छा लग सकता है। भगवान्‌के भक्तको भगवान्‌के नाम, रूप, गुणका प्रचार करना चाहिये।

मनुष्यके क्षणभङ्गुर, नाशवान् शरीरको पुजवानेसे क्या लाभ? मेरा पाँच वर्ष पहलेका चित्र यदि हो तो उसमें और आजके

चित्रमें कितना अन्तर होगा। ऐसे ही सभी चित्रोंमें कौन-सा सच्चा है? कोई नहीं।

भगवान्‌का रूप-नाम कितना मधुर है। यदि पहले जन्मका मेरा चित्र कहीं पूजा जाता हो तो उससे मुझे क्या लाभ हो रहा है। मेरी पुस्तकोंमें, लेखोंमें, भगवान् विष्णु, राम, कृष्णकी ही प्रशंसा मिलेगी। यदि भक्तोंके चित्रोंकी प्रचारकी दृष्टि होती तो मंगलनाथजी महाराजके चित्रका खूब प्रचार करते।

ज्ञानीकी दृष्टिसे बतलाया जाता है। पूजनकी दृष्टिसे पूजे तो उसे छोटा बना रहा है। ज्ञानी तो ब्रह्म ही हो गया, साक्षात् परमात्मा हो गया। पूजक लोग उसे छोटा बना रहे हैं। उसे महात्मा कह रहे हैं, उसे ब्रह्मसे न्यारा कर रहे हैं। उसके नाम, रूपको ब्रह्मसे अलग निकाल रहे हैं।

महात्माकी दृष्टिसे यदि वह अपने नाम, रूपकी पूजा चाहता है तो वह ब्रह्मको प्राप्त ही नहीं हुआ। अपने वर्तमान नाम, रूपमें उसका अभिमान है, तभी वह उसकी पूजा चाहता है, अन्यथा उसे यही समझना चाहिये कि राम, कृष्णका नाम, मेरा ही नाम है। उनकी पूजा मेरी ही पूजा है। यदि वह अलग नाम, रूपकी पूजा चाहता है तो राम, कृष्णसे अपनेको अलग मानता है। यदि मैं जयदयालके नाम, रूपसे आप लोगोंका लाभ समझता हूँ, आपको पूजक और अपनेको पूज्य समझता हूँ तो देहाभिमान और किसका नाम है।

स्त्री पतिकी, पुत्र माता-पिताकी पूजा करे, यह लाभकी बात है। परमात्मा सबसे ऊँचे हैं। अपनी श्रद्धासे अपने गुरुको ईश्वरके तुल्य मान सकता है, पर ईश्वर नहीं। अन्यथा यह ईश्वरको मटियामेट करनेकी-सी बात है। यह सिद्धान्तकी बात है। नहीं

तो इतने ईश्वर खड़े हो जायँगे कि आपको वास्तविक ईश्वरका पता लगाना कठिन हो जायगा।

दम्भ-पाखण्डके पेटमें मान-बड़ाई या धनकी इच्छा ही है। जितने काम विश्वमें भगवान्‌के विरुद्ध हो रहे हैं, उनसे भगवान् प्रसन्न नहीं हैं। अधिकार दे दिया। लोग भगवान्‌का दुरुपयोग कर रहे हैं, अतः दण्ड मिलेगा। आगे अधिकार नहीं रहेगा। बन्दूक छीन ली जायगी। अच्छा काम करेगा, उसे दुबारा बन्दूक मिल जायगी और पुरस्कार भी मिलेगा।

हरेकमें यह बात आ जानी चाहिये कि भगवान्‌के मन्दिरमें भगवान्‌की जगहपर किसी मनुष्यकी पूजा करनी यह घृणा करने योग्य बात है। यदि उन महात्माओंने स्वयं इस प्रकारका प्रचार करवाया है, तब तो वे महात्मा ही नहीं थे। यदि उनके अनुयायियोंने उनकी बात न मानकर यह प्रचार किया है तो उन्होंने उस महात्माका सिद्धान्त नहीं समझा।

यह सिद्धान्तकी बात है, हम सोचेंगे तो हमको प्रिय लगेगी, बड़ी ठोस बात है। सत्य बोलना चाहिये, परस्त्रीको माँके समान समझना चाहिये। ठोस सिद्धान्तकी बात है।

अन्यायसे धन अर्जित करनेवाला लोभी ही नहीं, अपितु पापी भी है। न्यायसे अर्जित करनेवाला भी लोभी है। जहाँ खर्च करना न्याय हो वहाँ खर्च नहीं करता, वह भी लोभी है। वैराग्यवान् हो तो न्यायसे भी अर्जित होना उसे अच्छा नहीं लगता।

दूसरी स्त्रीपर कुदृष्टि जाना तो पाप है ही, अपनी स्त्रीके साथ भी अन्याययुक्त भोग भोगना पाप ही है। न्याययुक्त भोग शास्त्र प्रणालीसे हो, वहाँ भी यदि भोग-बुद्धि है, वह काम तो है ही।

पापका अभाव है, पर कामका अभाव नहीं है। वहाँ वैराग्य कहाँ।

अनुचित क्रोध पाप रूप है। स्त्री बालकोंको शिक्षा देनेके लिये यदि न्याययुक्त क्रोध हो, उसमें आपत्ति नहीं है। वह भी यदि वास्तवमें क्रोध है तो वह दोष ही है। क्रोधका अभिनय हो तो आपत्ति नहीं।

सूक्ष्म काम, क्रोध भी स्थूल होकर गिरानेमें हेतु बन सकते हैं, अतः इनकी जड़ काट डालनी चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ—यह सब बातें खूब अच्छी तरह अनुभव की हुई हैं। काम-क्रोध-लोभ खूब बाधा डालते रहे हैं। प्रकृति लोगोंकी भिन्न-भिन्न रहती है, पर सबसे अधिक बलवान् काम है। मेरेपर कामका जोर अधिक रहा, क्रोधका जोर नहीं रहा। लोभके लिये बीचकी स्थिति रही।

किसी भी भक्तका भक्तके रूपमें प्रचार होना कोई आपत्तिकी बात नहीं है। उनके आचरण, गुण, क्रिया, सिद्धान्त, उपदेश, कथन—इनको जितना स्वयं धारण कर सके, दूसरोंमें करवा सके, उसके समान उस महात्माको कोई प्रिय नहीं होता। उसके माता-पिता एवं प्राण भी उसे इतने प्रिय नहीं लगते, जितना प्रिय वह सिद्धान्तका प्रचारक लगता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६९)

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।

नाम और रूप तो भगवान्‌का ही प्रचार करनेके योग्य है।

सिद्धान्त भगवान्‌का ही है। गीताके वचन स्वयं भगवान्‌के ही वचन हैं। गीताकी बातें जो मेरी समझमें आयी हैं, वे बातें कही जाती हैं। उनका पालन करनेवालेके उद्धारमें कोई शंकाकी बात नहीं है। मेरे नाम, रूपकी पूजाकी कोई बात करे तो उसका मैं विरोध ही करूँगा।

सिद्धान्तकी बातको काममें लानेवालेके उद्धार होनेमें कोई शंकाकी बात नहीं, किन्तु कहनेवाले इस शरीरकी, वक्ताकी कोई पूजा करे, इसकी सेवा करे, आश्रय ले, उसके लिये मैं पाव आने भर भी उत्तरदायी नहीं हूँ। उसका कोई हित होगा, यह बात नहीं कही जा सकती। मैं एक तुच्छ मनुष्य हूँ। भगवान्‌ने रामायणमें, गीतामें जो बातें कही हैं, उनकी ओर ध्यान देना चाहिये।

भगवान्‌के नाम-रूपकी तरह कोई मनुष्य अपनी पूजा कराने लगे तो यह पतनका ही मार्ग है। यदि कोई कहे कि गुरु परम्पराकी रक्षा करनेके लिये मैं ऐसा करता हूँ, हमें यह ठेका क्यों लेना चाहिये। रक्षा करनेवाला अपने आप करेगा। यह सिद्धान्तकी बातें हैं। सिद्धान्तका ही डाली पत्ता है, उसीका अंश है।

मेरे एक साथी चरण धोकर पिलाना तथा जुठन खिलाना आदि व्यवहार करते थे, उनका पतन हो गया। हमलोगोंको भगवान् शिक्षा दे रहे हैं कि तुमलोग खूब सावधान रहो। हम भी यदि नहीं चेतते तो हमारी यह दशा होती। मैं यदि एकान्तमें भी इनको कुछ भी गुंजाइश दूँ तो सभामें इनका ऐसा विरोध कैसे कर सकता हूँ।

मैं और स्वामीजी ऋषीकेश सत्संगमें जाते हैं। लोगोंके आग्रहवश लोगोंके तथा मेरे रुपये सब मिलाकर साधुओंको अन्न, वस्त्र आदि बाँटनेका काम किया जाता है। ऐसा काम करना स्वामीजीके लिये तो बिलकुल ठीक नहीं है। मेरे लिये भी यह दो नम्बरका काम है। पर यह काम जुड़ गया है। पीछे तो

समझमें आ गयी। किसी प्रकार भी लोगोंसे रुपयोंका सम्बन्ध न जुड़ना ही ठीक है। बीचमें दलाल न बनें। किसीको आवश्यकता हो, वह स्वयं ही जाकर लगा दे। अपने स्वयंके रुपये हो तो लगा दे, दूसरोंसे सम्बन्ध न जोड़े।

बहुत पहले मैं लोगोंके उपकारके लिये माँगकर लाता था। तीस वर्ष पहलेकी बात है। चक्रधरपुरमें एक साधुको कम्बल दिलानेके लिये हरिकृष्णको कुछ रुपये जमा करनेके लिये भेजा। एकने कहा कि आप साथ आ गये, अतः जो कुछ देते हैं, वह आपको ही देते हैं। हरिकृष्णको यह बात बुरी लगी कि आगेसे अपने पास हो वह दो, किन्तु माँगने मत जाओ।

बादमें यह भी शिक्षा मिली। मेरे कुछ धनी मित्र कह देते, तेरे जँचे उस अच्छे काममें हमारा रुपया भी लगा देना। उसमें भी उलाहना मिला कि इसलिये भार थोड़े ही दिया था कि इतना लिखा दें। तबसे कोई भार दे तो स्पष्ट कह दिया जाता है कि भार उठाने लायक मैं नहीं हूँ।

स्वामीजी साधु हैं—उनको स्पष्ट कहा जाता है कि कंचन-कामिनीका सम्बन्ध न रखें, केवल भिक्षा नीची दृष्टिसे ले लें।

गृहस्थ अपनी कंचन-कामिनीसे सम्बन्ध रखें, दूसरेसे नहीं। अच्छे काममें अपना धन जँचे सो दे दिया। तुम पाँच रुपया दे दो, यह कहना नहीं जँचता। प्रेरणा करनी दो नम्बर है। यह बात भी कभी-कभी बन जाती है। जिन लोगोंने कह रखा है कि हमारा लगा दें, उनका लिखा दिया जाता है। यह दो नंबरका काम है।

कोई भी स्त्री परपुरुषसे और पुरुष परस्त्रीसे सम्बन्ध जोड़ेगा, वह पतनका ही रास्ता है। संन्यासीके लिये मात्र कंचन-

कामिनी त्याज्य है। गृहस्थ जो न्याययुक्त कर्मफल न चाहकर कार्य करता है, वह संन्यासी है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६। १)

जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है; और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

ऐसा गृहस्थ नित्य संन्यासी है, केवल वेश धारण करनेवाला नित्य संन्यासी नहीं है। राग-द्वेष आदि सभी द्वन्द्वोंसे रहित होकर

सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है। रागके ही बेटे हैं—काम, क्रोध और लोभ—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २। ६२)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।

राग-द्वेषसे रहित साधक सबसे बढ़कर है। रागसे ही काम, क्रोधकी उत्पत्ति होती है। अनासक्त होकर इनमें बर्तनेवाला गृहस्थ संन्यासी ही है। न कर्ममें आसक्ति, न भोगोंमें आसक्ति, न विषयमें आसक्ति, न फलमें आसक्ति, इहलोक या परलोकके भोग, किसीमें आसक्ति नहीं। कामनाको लेकर होनेवाला संकल्प ही संकल्प है, अन्यथा फुरणामात्र है।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

(गीता ६। २४)

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोके।

ममता, अहंता, आसक्ति, कामनाको लेकर ही संकल्प संकल्प है। जिसमें यह न हों, वह खूब पेट भरकर कर्म करो।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

जिसके सारे कर्म दग्ध हो गये हैं, उसे ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। प्रारब्ध भी दग्ध है, क्रियमाण भी दग्ध है। कर्म देखनेमात्रके हैं, आरम्भमात्र हैं। स्त्री-पुत्रके मिलने, जानेसे हर्ष-शोक नहीं, तब फिर भोग क्या? दुःख-सुख नहीं, विश्वमें बेटे मरते ही हैं, स्त्री मरती ही है। अपनेको क्या शोक? किसीकी तो वे हैं ही। इन पुरुषोंको ही ज्ञानी कहते हैं।

जनक, याज्ञवल्क्य, अश्वपति आदि ऐसे ही कर्म करते हुए ज्ञानी महात्मा थे।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

कर्तृत्वाभिमान और आसक्ति नहीं है, तब पापसे लिपायमान कैसे हो।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता १२। १५)

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष,

भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।

वह महात्मा किसीसे भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होता। न वह किसीको उद्वेग करानेमें स्वयं हेतु होता है।

प्रश्न—भीष्मपितामहने कहा था अन्यायीके अन्नसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मेरी वासना अभीतक नहीं गयी। क्या बात है?

उत्तर—हम गृहस्थोंको न्यायसे उपार्जन करना चाहिये। हमलोग साधु, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारीकी समालोचना करते हैं, पर मूल कारण तो हम गृहस्थ लोग ही हैं। उनको गिरानेवाले हमलोग ही हैं। पहले हमलोग गिरे। अन्यायसे उपार्जन किया। उसका अन्न खानेसे अन्य तीनों आश्रमी गिर गये। सारा दोष हमारा ही है। द्रौपदी पितामहके इस उपदेशपर हँसी कि जिस सभामें अन्याय होता हो, शक्ति हो तो रोक दे, अन्यथा उठकर चला जाय। भीष्मजीने कहा—ठीक है। तुम्हारे चीर उतारनेके समय मैंने रोका भी नहीं, सभासे उठा भी नहीं। दुर्योधनके अन्नसे मेरी यह दशा हो गयी थी। हमलोगोंको न्यायसे उपार्जन करना चाहिये। जब भीष्म-जैसे पुरुषोंपर अन्यायके अन्नका इतना प्रभाव हुआ, हम तो साधारण मनुष्य हैं। अतः न्यायसे ही उपार्जन करना चाहिये। पापसे उपार्जन करो ही मत।

हरेक साधकको कामसे डरते रहना चाहिये। यह ऐसी खराब चीज है कि अपनी माता-बहनके पास भी एकान्तमें न रहे। इन्द्रियाँ बलवान् होती हैं, ये विद्वान्‌को भी विचलित कर देती हैं। वेदव्यासजीने कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

गीता भी कहती है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(गीता २। ६०)

हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात् हर लेती हैं।

इन्द्रियाँ बलवान् हैं। इसी प्रकार सब विषयोंके बारेमें समझना चाहिये।

राग-द्वेषके त्यागसे काम-क्रोधका त्याग हो गया। यज्ञ, दान एवं तप फल एवं आसक्ति छोड़कर करनेसे कल्याण हो, उसमें तो कहना ही क्या है? राग-द्वेषको छोड़कर विषयोंको भोगनेसे भी भगवान्ने कल्याण बताया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।

आगको आप पल्लेमें बाँध लें और कपड़ा भी न जले। उसके लिये आग साग तरकारी है। बिना राग-द्वेषके विषयोंके सेवनसे प्रसाद होता है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६५)

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।

सूत्ररूपसे कंचन-कामिनीके त्यागकी बात पहले कही थी, उसी विषयमें स्वामीजीका नाम लिया था। यह तो साधुओंके लिये पहली सीढ़ी है। उसके ऊपरकी बात मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको धूलके समान समझे। इससे पूर्ण साधुता आती है। ऐसी साधुता आनेके बाद उनके उपदेश, आदेश, शिक्षासे लोगोंका कल्याण सम्भव है। वे स्वयं तो महात्मा हो ही गये। इससे भी ऊँची कोटि यह है कि उनके संकेतके अनुसार करनेसे ही कल्याण हो जाय।

इससे भी ऊँची बात यह है कि बिना संकेतके ही मतके, सिद्धान्तके अनुसार काम करनेसे उद्धार हो जाय। शेषमें उनके दर्शनमात्रसे ऐसा हो जाय। और उच्चकोटि स्थिति यह है कि उनके नाम-स्मरणके साथ ही उनके गुण, आचरण, स्वरूपकी बात आ जाती है।

राजा युधिष्ठिरको याद करनेसे उनके गुण, चरित्र, उपदेश सब उसके सामने आ जाते हैं, जो उनके चरित्रका जानकार हो। उनके चरित्र, उनका आचरण, उनकी दी हुई शिक्षा, उनका गुण लोगोंके उद्धारकी शक्ति रखते हैं। युधिष्ठिर ऐसे पुरुष थे।

शुकदेवजी, जनक एवं उनसे भी बढ़कर अश्वपति हुए। अश्वपतिके राज्यमें कोई वेश्या नहीं थी, कोई हिंसक नहीं था, कोई चोर नहीं था। उनका कितना भारी प्रभाव था। ब्राह्मणोंको, ऋषियोंको कुलपति उपदेश देते थे। एक-एक कुलपतिके दस

दस हजार शिष्य थे। उसी समय उपदेश पाकर वे ऋषिलोग ज्ञानी बन गये।

अश्वपतिका उपदेश, आचरण, गुणोंका नित्य चिन्तन करें तो हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे एकलव्यने द्रोणाचार्यसे शिक्षा प्राप्त की। ऐसी बात नहीं है कि योग्य पुरुष न मिले तो भी लड़कीको ब्याह ही दें। शास्त्र कहते हैं—सारी उम्र कुँआरी रह जाय, पर अयोग्यसे विवाह न करे। इसी प्रकार योग्य गुरु न मिले तो पूर्वकालमें हुए अश्वपति, शुकदेवजी, जनक, वसिष्ठ आदि महापुरुषोंको एकलव्य भीलकी तरह हम गुरु बना सकते हैं। यह नहीं कि योग्य मिले या न मिले, किसीको भी हमें गुरु बना लेना है।

अश्वपति आदि महापुरुषोंसे भी बढ़कर हम बन सकते हैं। गोपियाँ भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाली थीं, मनुष्य उनसे बढ़कर नहीं हो सकता, यह बात भगवान्‌ने नहीं कही।

जबतक सारे विश्वका उद्धार न हो, तबतक उन्नतिकी गुंजाइश है। ऐसा पुरुष बन सकता है, सारे जीवोंका कल्याण हो सकता है, यह सिद्धान्तकी बात है। अतः ऊपर उठते ही रहें, उन्नति करते ही रहें। कहीं रुकावट नहीं है।

मुक्तिदायक क्षण

प्रत्येक मनुष्यको एक क्षण मुक्तिके लिये मिलता है, यदि वैसा क्षण चाहिये तो मरणासन्नके लिये कीर्तनमें शामिल हो जाओ। उसमें जितने शामिल हुए सब मुक्तिके अधिकारी हो गये। जब फाँसीके लायक काममें शामिल होनेपर सबको फाँसी होती है, तब मरनेवालोंको कीर्तन सुनानेमें सबकी मुक्ति क्यों नहीं होगी। वहाँ जाकर धरना लगा दे। इस कामके लिये समय देना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भजन, ध्यान, सत्संग छोड़ दो। आवश्यक-से-आवश्यक कार्य छोड़ दो। बहुत अधिक महत्त्वकी बात है। प्रेसका भाई हो तो प्रेसकी भले ही हानि सहन कर लो। आग लगनेपर बुझाना लौकिक लाभ है। मरनेवालेकी मुक्तिकी व्यवस्था करना आध्यात्मिक लाभ है। पाँच जगह चेष्टा करें, एक जगह भी सफलता मिल जाय तो भी लाभमें हैं। वैरी शत्रु भी हो तो वहाँ भी जाय।

१. मरनेवाला सुनना चाहे, घरवाले भी चाहें।

२. मरनेवालेको ज्ञान नहीं है, घरवाले चाहें।

३. मरनेवाला चाहे, किन्तु घरवाले नहीं चाहें तो भी सुनाये।

४. मरनेवाला नहीं चाहे, घरवाले चाहें।

यहाँतक तो कर ले, किन्तु कोई नहीं चाहे, तब कोई उपाय नहीं है।

नाम सुनानेके लिये बुलावा आ जाय तो समझो भगवान्‌का बुलावा आया है। प्रेसमें कोई व्यक्ति आये तो जिस श्रद्धासे आये, उसकी श्रद्धा और बढ़ानी चाहिये। यह नहीं कि तीर्थोंकी महिमा

प्रवचन दिनांक—२२-१०-१९५७

सुनकर आये और पंडा-पुजारियोंका व्यवहार देखकर श्रद्धा कम हो जाय।

दूरसे आनेवाले भावुक सज्जन गीताप्रेसको तीर्थ मानते हैं। वास्तवमें यह तीर्थ स्थान नहीं है, किन्तु श्रद्धालुके लिये उसकी भावनाके अनुसार लाभ हो भी सकता है। अपना भाव ही प्रधान है। गीताप्रेस वास्तवमें भगवान्‌की है। चाहे कोई माने या न माने। बहुत उदारताका व्यवहार करना चाहिये। चार बातोंका ध्यान रखना चाहिये—प्रेम, विनय, त्याग एवं अभिमानका त्याग।

विशेष आसक्तिके विषय तथा उनसे बचनेका उपाय

ऐसे तो मनुष्योंकी आसक्ति सारे संसारमें ही है, किन्तु पाँच जगह विशेष आसक्ति है—कंचन, कामिनी, मान, बड़ाई और शरीरका आराम। इसके लिये मनुष्यको नियम कर लेना चाहिये। जिस प्रकार हम गीताका पाठ करते हैं, इसी प्रकार नित्य देखे कि इनमें मेरी आसक्ति कितनी कम हुई। यह बहुत अच्छा उपाय है। इनमें दोष दृष्टि करे—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

रुपये कमानेमें बहुत परिश्रम, महान् अन्याय करना पड़ता है, रक्षा करनेमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है एवं विनाशमें दुःख होता है। इस प्रकार इसमें दुःख-ही-दुःख है। यह नित्य वस्तु नहीं है। यह अनित्य है। इसी प्रकार स्त्रीमें देखे कि इसका शरीर हाड़-मांसका पिंजरा है। इसमें मैला-ही-मैला भरा हुआ है। उसके संगसे हानि-ही-हानि है, सुख नहीं है, धोखेसे दीख रहा है, इसलिये इससे प्रीति हटानी चाहिये।

लाखों बार अपनी मान, बड़ाई हो चुकी, उसे बेचनेसे पाँच पैसा भी अब नहीं मिलेगा। सारा विश्व हमारी निन्दा करे तो

प्रवचन दिनांक—२९-११-१९४४, प्रातःकाल, गोयन्दका गार्डेन, गोरखपुर।

हमारी क्या हानि है। सारा संसार निन्दा करता रहे, हमें परमात्माकी प्राप्ति हो गयी तो उस निन्दासे क्या हानि है। हजार लोग कहते रहें, हमारा बाल भी बाँका नहीं हो सकता। इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि निन्दा-स्तुति बिलकुल निरर्थक बात है। इस प्रकार समझकर मान, बड़ाई स्तुतिको कुछ भी आदर न दे। निन्दा सुनकर दुःखी होते हैं, उसमें भी पतन है तथा स्तुति सुनकर प्रसन्न होते हैं उसमें भी पतन है। पतन-ही-पतन है। कोई स्तुति करे तो उसका बहिष्कार करे, निन्दा सुनकर उसका आदर करे, आगे जाकर निन्दा-स्तुतिमें समानभाव हो जायगा।

निन्दा-स्तुति किसकी होती है? नामकी। मेरा नाम जयदयाल है। इस नामकी कोई स्तुति करता है तो मैं प्रसन्न होता हूँ, निन्दा सुनकर दुःखी होता हूँ। इस शरीरके पहले यह नाम था ही नहीं। जन्मनेके कुछ दिन बाद घरवालोंने नाम रख दिया। आगे जाकर यह बात जमा ली कि मैं जयदयाल हूँ। मेरा नामसे क्या सम्बन्ध है। मैं पहले जन्मा, नामकरण पीछे हुआ। मरनेके बाद जहाँ भी जाऊँगा, यह नाम साथ जानेवाला नहीं है। इससे मेरा क्या सम्बन्ध हुआ। माताके गर्भमें था, तब यह नाम नहीं था। पूर्वजन्मका पता ही नहीं है। यह काल्पनिक बात है। उसे लेकर मैं दुःखी, सुखी होऊँ तो यह मूर्खता है। आत्माका कोई नाम नहीं, फिर नामको लेकर सुखी, दुःखी होऊँ, इससे बढ़कर क्या अज्ञान होगा।

अब रही मान-सत्कारकी बात, कोई व्यक्ति आदर-सत्कार करे, ऊँचा बैठाये, वह सत्कार शरीरका होता है। शरीर जलने वाला है, इसकी राख होनेवाली है, ऐसी स्थिति है। हमें सोचना चाहिये, इससे मेरा क्या सम्बन्ध रहा। जो देहको आत्मा मानता

है उसे ही मान-अपमानसे सुख-दुःख होता है। शरीर ही मैं कायम कर लेता है। ज्ञानके सिद्धान्तसे यह बात बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है। यही बात भक्तिके सिद्धान्तसे है। भक्तिके सिद्धान्तसे यह बताया गया है कि जो अपनेको तिनकेसे भी नीचा समझता है, वह भगवान्‌का भक्त है। जब सबके चरणोंकी धूलि होकर रहेगा, तब मान-सत्कार किससे चाहेगा। भगवान् राम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

सेवक तो सबके जूतोंमें रहता है, मान-सत्कार उसके लिये पतनकी चीज है। भगवान्‌का भक्त कभी मान चाहता ही नहीं, क्योंकि उसका स्वामी ही नहीं चाहता। भगवान्‌के नाम हैं—**अमानी, मानदः।**

वे स्वयं मान नहीं चाहते, अपितु दूसरोंको मान देते हैं। हम मान चाहें तो भक्त कहाँ हुए, भगवान्‌के मालिक हुए। भगवान् जैसा करते हैं, हमें वैसा ही करना चाहिये, तभी उनके अनुयायी होंगे। भक्त कभी मान चाहते ही नहीं। दूसरोंको ही मान देते हैं। जो अपनी मान-बड़ाई चाहते हैं, वे भक्त ही नहीं हैं। मान-बड़ाईकी इच्छा कलंक है।

कीर्ति कलंक और बड़ाई बिच्छू जैसी है। प्रतिष्ठामें मैलेकी तरह घृणा करनी चाहिये। यदि भगवान्‌में प्रीति है, तब तो यही बात है। कंचन-कामिनी, मान-बड़ाईमें दुःख-दोषका दर्शन करना चाहिये, इससे वैराग्य होता है। जिस प्रकार पुरुषोंके लिये बताया है, इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये है। रुपयोंमें, मैथुनमें, शरीरके आराममें उनकी प्रीति है ही; गहना, कपड़ा और पुत्रमें

उनकी और आसक्ति है। स्त्रियोंमें जितनी आसक्ति है, लोभकी वृत्ति है, उतनी प्रायः पुरुषोंकी नहीं है।

लड़कों, वस्त्रोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा उनमें अधिक आसक्ति रहती है। गहने-कपड़ेका उनका संग्रह अधिक है। घरमें जब लड़का-लड़की मर जाते हैं, तब पुरुषोंकी अपेक्षा वे अधिक रोती हैं। पुरुषोंकी जिन चीजोंमें आसक्ति है, उनमें तो उनकी है ही, तीन आफत और अधिक है।

भगवान्‌में मन नहीं लगता, इसका कारण यही है कि भगवान्‌में प्रेम नहीं है, अपितु संसारके भोगोंमें प्रेम है।

कंचन तजना सहज है सहज तियाका नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना एह॥

अपनी बड़ाई हो रही है, दूसरेकी अधिक हो रही है। मन करता है कि अपनी चाहे कम हो, दूसरेकी बड़ाई नहीं होनी चाहिये, यही ईर्ष्या है।

कंचन, कामिनी, मान, बड़ाई, ईर्ष्या ये पाँच चीजें हैं। मैं इसमें एक चीज और शामिल करता हूँ—शरीरका आराम।

प्रेमके पाँच स्थान विशेष हैं—कंचन, कामिनी, मान, बड़ाई और शरीरका आराम—इनमें अज्ञानसे प्रीति हो रही है। आरम्भमें इनमें सुख प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम दुःख-ही-दुःख है। इन सब बातोंको सोचकर ही कहा गया है कि बुद्धिमान् इनमें रमण नहीं करता—**न तेषु रमते बुधः।**

यह सोचकर हमें इनसे हटना चाहिये। भगवान्‌में प्रेम होना चाहिये। भगवान् ही प्रेमके योग्य हैं, और कोई प्रेमके योग्य नहीं है। आप पूछें क्या महात्मा प्रेमके योग्य नहीं हैं? महात्मामें प्रेम करने योग्य वस्तु भगवान्‌से ही तो है। उनमें प्रेम करना भगवत्प्राप्तिके

लिये ही है। प्रापणीय वस्तु भगवान् ही ठहरे। इसलिये हमें केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये। प्रेमी यदि भगवान्‌को बाजारमें बिक्री करे तो वे बिक जाते हैं। इसलिये हमें सब कुछ छोड़कर भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये। हमारे पास धन हो, अपने बन्धु हों, उन सबको बेचकर भगवत्प्रेम खरीद लेना चाहिये। चारों ओरसे भगवान्‌में प्रेम हो, यही चेष्टा करनी चाहिये। वही मनुष्य बुद्धिमान् है, जिसने यह निश्चय कर लिया है कि प्रेम करनेयोग्य भगवान् ही हैं। वही योगी है, महात्मा बनने योग्य है, इसलिये महात्मा ही है। यह बात समझमें आ जाय तो भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब हो ही नहीं सकता। सारा संसार एक ओर भगवान्‌का प्रेम एक ओर, भगवान्‌के प्रेमके सामने समुद्रके जलकी एक बूँद जितना आदर भी सारे संसारका नहीं है। यह बात समझमें आ जाय तो विलम्बका काम नहीं है, यह बात समझनी चाहिये।

भगवान् कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।

सारे ब्रह्माण्डका मूल्य भगवान्‌के समान कैसे हो सकता है, क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड उनके एक अंशमें है, इसलिये सारे संसारका तिरस्कार कर देना चाहिये। तिरस्कार करनेका तात्पर्य है, उपराम होना चाहिये। वैराग्यके द्वारा तिरस्कार हो सकता है इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३)

दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा उस संसारवृक्षको काट डाले। काटनेका मतलब है भुला दे। संसारका नामोनिशान ही नहीं रहने दे। सम्बन्ध-विच्छेद कर दे।

चित्तकी वृत्तियोंमें बार-बार वैराग्यकी भावना करके जोश बढ़ाये। जिस प्रकार अस्त्रको धारपर चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार वैराग्यको धार चढ़ाकर तैयार रखना चाहिये।

सत्संग, विचार, सत्-शास्त्र इनके द्वारा अस्त्रपर धार तीक्ष्ण करे, फिर संसारको काटे। वैराग्यरूपी शस्त्रको तैयार रखे, कोई भी फुरणा हो, उसे काट डाले। वैराग्यके नशेमें चूर होकर विचरे, जिस प्रकार शुकदेवजी, जड़भरत विचरण किया करते थे। बहुत-से ऐसे विरक्त महात्मा हो गये हैं। संन्यास-आश्रममें तथा गृहस्थाश्रममें ऐसे महान् पुरुष हो गये हैं। राजा जनक, अश्वपति आदि इनकी महिमा स्वयं भगवान्‌ने गायी है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३। २०)

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी ऐसा पुरुष संन्यासी और योगी है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

वह नित्य संन्यासी इसलिये है कि बाहरके संसर्गका उसपर प्रभाव नहीं होता। संन्यास-आश्रममें रहनेवाला सदा संन्यासी नहीं है। जब भिक्षा माँगता है, लोगोंसे बात करता है, तब बाहरका संन्यासी नहीं है।

गृहस्थ बाहरसे सब काम करता है, किन्तु भीतरसे उसका संन्यास अटल है, वह सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है। संन्यास-आश्रममें सुखपूर्वक बन्धनसे नहीं छूटता। उसे गृहस्थके बाहरके पाप लिपायमान नहीं कर सकते। जिस प्रकार कमलके पत्तेका जल स्पर्श नहीं कर सकता। जल कमलपत्रपर शोभा पाता है, किन्तु कमल जलसे लिपायमान नहीं होता।

यदि कोई महात्मा पुरुष राज्य करता है तो वह रामराज्य है। संसारके भोग भी वहाँ दीप्त होने लग जाते हैं, जिस प्रकार कमलके पत्तेपर पड़ा हुआ जलका बिन्दु चमकता है।

गृहस्थ है, भीतरका त्यागी है, वह सदा संन्यासी है। ऐसा कर्मयोगी सुखपूर्वक सारे बन्धनोंसे छूट जाता है। सांख्ययोगीको कर्मयोगका आश्रय लेना पड़ता है, अन्यथा उसके बन्धन छूटनेमें कठिनता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ६)

परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय

और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

आप कहें ऐसा पुरुष इस समय मिलना कठिन है, ठीक है, परन्तु अभाव नहीं है। आप कहें कि ऐसा आदर्श पुरुष हमें बतायें ताकि हम उसका अनुकरण कर सकें; किन्तु हम तो पहचान नहीं सकते, जिससे निर्णय करके बता सकें। आप कहेंगे फिर कैसे काम चलेगा? बात यह है कि हम अपनी बुद्धिसे उसे पहचान नहीं सकते। हम एक गजसे आकाशको जिस प्रकार नहीं नाप सकते, उसी प्रकार हमारी बुद्धिके गजसे उसे नहीं पहचान सकते। आप कहें फिर काम कैसे चलेगा? काम चलनेकी बात बता दी जाय। आप अपनेसे श्रेष्ठ किसीको समझते ही होंगे। उसे अपना आदर्श मानकर चलिये। और कोई नहीं हो तो शास्त्रीय पुरुष हैं ही। अर्जुन, भीष्म, अश्वपति आदिको आदर्श मानकर चलिये। बहुत नाम बताये जा सकते हैं। गृहस्थोंके नाम ही आपको बताये हैं। वसिष्ठजी गृहस्थ थे। व्यासजी गृहस्थ ही थे, कितने उच्चकोटिके पुरुष थे। अगस्त्यजीका जीवन लोकोपकारके लिये ही था।

रावणका इतना अत्याचार था, उस समय भी महर्षि अगस्त्यको देखकर राक्षस काँपते थे। अगस्त्यजी वातापि राक्षसको खा गये। महाभारतमें कथा आती है। ऐसे पुरुषोंके लिये यह श्लोक है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

जिस पुरुषके अन्त:करणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

राक्षसको खानेमें उनका क्या स्वार्थ था? उनका उद्देश्य था ब्राह्मणोंकी रक्षा। अगस्त्यजीका कितना प्रभाव था। उनके आश्रमकी इतनी शक्ति थी कि उनके आश्रममें पशुओंकी भी द्वेषवृत्ति नहीं रहती थी। उनके पास कोई राक्षस जाता तो उसकी राक्षस-बुद्धि नहीं रहती।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस अहिंसक योगीके निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वह बात उनमें थी। नहुषको अगस्त्यजीने गिराया, विन्ध्याचलको रोका, कहीं किसीपर आपत्ति आती तो वे उसका समाधान कर देते। ऐसे समय यदि कोई हिंसा होती है तो वह हिंसा नहीं है। यदि इसे ही हिंसा कहें तो रामचन्द्रजीसे इस तरहकी बहुत हिंसा हुई है। भगवान् कृष्णने कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

घटोत्कचके मरनेपर भगवान् हँसते हैं, क्योंकि उनका अवतार ही है दुष्टोंके संहारके लिये। भगवान्‌ने कहा—घटोत्कच राक्षस

था। राक्षसोंके वधकी मेरी प्रतिज्ञा है। अगस्त्यजी द्वारा राक्षसोंको मारना, आशीर्वाद देना, वरदान देना, शाप देना, उनकी एक शैली नहीं थी। जिस किसी प्रकार संसारका हित हो। वातापि नामके राक्षसको खा गये, नहुषको शाप दिया, विन्ध्याचलको आशीर्वाद दिया, समुद्रको पी गये।

अगस्त्यजी उच्चकोटिके महात्मा गृहस्थ थे। उनकी स्त्री लोपामुद्रा हैं। अरुन्धती, लोपामुद्रा, अनसूया—ये उच्चकोटिकी पतिव्रता गिनी जाती हैं। इनके पति भी उच्चकोटिके महात्मा हैं। ऐसे-ऐसे पुरुष गृहस्थाश्रममें हुए हैं, अभी हैं। ब्रह्मलोकमें ऐसे कई महात्मा रहते हैं।

प्रकरण महात्माका था। जो अपनेसे श्रेष्ठ दीखता हो उन्हें ही आदर्श बनाकर चलना चाहिये तथा जिसके संगसे परमेश्वरमें प्रीति हो, दैवी सम्पदा बढ़े, उनका संग करना चाहिये।

संसारसे वैराग्य होनेके लिये यह बात बतायी गयी कि वैराग्यवान् पुरुषोंको याद करके वैराग्यकी वृत्ति बनानी चाहिये, फिर स्वतः ही संसारसे उपरामता होकर संसारके पदार्थोंका त्याग होगा। संसारमें प्रेम है, इसलिये संसारका चिन्तन अधिक होता है। जब संसारसे विरक्ति हो जायगी, तब उससे उपरति हो जायगी।

परम उपरति हो जानेपर चेष्टा करनेपर भी संसारका चित्र नहीं आता। हम जब एकान्तमें जाते हैं तो जिस प्रकार कहा करते हैं, उसी प्रकारके संसारके चित्र आते हैं। इसी प्रकार जो परम वैराग्यवान् हैं, वे कहते हैं कि तुम कहते हो व्याख्यान देनेके लिये, हमें कोई बात याद ही नहीं आती। ऐसी बात ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें होती है। चौथी भूमिकामें जब भगवत्प्राप्ति हो जाती है तब व्यवहार सुचारुरूपसे होने लग जाता है। आगे जब वह पाँचवीं भूमिकामें बढ़ जाता है, तब उसे संसारका ज्ञान ही

नहीं रहता। ऐसी परम उपरामता ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें भी हो जाती है और पाँचवीं भूमिकामें बढ़ जाती है, तब उसे संसारका ज्ञान ही नहीं रहता। तीसरी भूमिकामें वह भुलाता है। पाँचवीमें स्वतः हो जाती है। ज्ञानके मार्गमें वैराग्य और उपरतिकी अधिक आवश्यकता है।

भक्तिके मार्गमें इनकी कमी भी रहे तो काम चल जाता है। आगे जाकर भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर संसारसे स्वतः ही उपरति हो जाती है। ज्ञानमार्गमें जबतक यह नहीं हो, तबतक सिद्धिकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

भक्तिका पात्र विषयासक्त, मूर्ख-से-मूर्ख, पापी-से-पापी भी हो सकता है। ज्ञानके मार्गका पात्र साधन चतुष्टय होनेपर ही होता है। कोई भी चीज बढ़िया हो, उसे वहाँसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

ज्ञानके मार्गमें चार चीज बढ़िया है—वैराग्य, उपरामता, मनन और निदिध्यासन। भक्तिमें नामका जप और स्वरूपका ध्यान प्रधान है। ज्ञानमें दो चीज ज्यादा जोरदार है—वैराग्य और उपरामता। उसे भक्तिमें शामिल कर ले। उसमें मनन और निदिध्यासन है, इसमें नाम और स्वरूपका ध्यान है ही।

शरणके मार्गमें भी भगवान् वैराग्यकी आवश्यकता बतलाते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ३-४)

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचार-

कालमें नहीं पाया जाता। क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।

ज्ञानके मार्गमें इनके बिना काम ही नहीं चलता।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

श्रद्धा और प्रेमका स्वरूप

ईश्वर, शास्त्रों और महात्माओंमें श्रद्धा कल्याण करनेवाली है। स्त्रीकी पतिमें एवं माता-पितामें बालककी श्रद्धा स्वाभाविक भी है और शास्त्रजा भी है।

श्रद्धाकी पराकाष्ठा क्या है? प्रेम अनिर्वचनीय है, उसका स्वरूप कोई वर्णन नहीं कर सकता। गूँगा आदमी जैसे बता नहीं सकता, प्रेमका स्वरूप ऐसा ही है। प्रेमी प्रेमास्पदके वियोगको सह नहीं सके, विरहमें परम व्याकुलता हो, संयोगमें आह्लाद हो, इससे भी अधिक प्रेम हो तो वियोग सह नहीं सके, प्राण नहीं रहे, मृत्यु हो जाय। श्रद्धा बहुत उच्चकोटिकी होनी चाहिये। श्रद्धेयके आज्ञापालनके ही परायण हो जाय। इससे भी उच्चकोटिकी श्रद्धा उनके संकेतके अनुसार नाचना, जिस प्रकार कठपुतली सूत्रधारके अनुसार नाचती है। वह तो जड़ है, यह चेतन है। इसे नचाना नहीं पड़े, उसके संकेतके अनुसार ही नाचे। इससे भी अधिक हो तो उसके मनके अनुसार, उसकी छायाके अनुसार नाचे। उससे भी अधिक हो तो उसके मनके अनुकूल ही उसका मन हो जाय।

विवाहके समय कन्याको पत्नीके रूपमें स्वीकार करते समय पति यही आशीर्वाद देता है कि ये तेरे मनके अनुकूल तेरा मन हो जाय। यदि कहो पता क्या लगेगा? उसका मन कैसा है। बाहरकी क्रियाका तो पता लग जाय, किन्तु मनकी बात तो अक्रिय है, क्या पता लगे, सेवकको मालिकके मनका पता लग जाता है। पत्नीको पतिका, बालकको माता-पिताके मनका पता

लग जाता है, फिर ईश्वर एवं महात्माके मनका भक्तको पता लग जाना क्या कठिन है। मूक चाण्डालको माता-पिताका ही नहीं, दूसरेके मनकी बातका भी पता लग जाता। शैब्याके बारेमें भी यही बात है। इस प्रकारकी बात शास्त्रोंमें देखनेमें आती है। यह बहुत दूरकी बात है, आरम्भकी नहीं। आरम्भमें तो उसके आदेशके अनुसार चलना ही बड़ी बात है। जब श्रद्धा नहीं होती, तब तो उनके वचनोंके विरुद्ध भाव भी पैदा हो जाते हैं। यह मनुष्यका स्वभाव है।

किसी भाईको यह कहा जाय कि यह काम तुम कर लोगे क्या? तब तो कर लेगा। यदि कहा जाय कि यह कर लो तो नहीं करनेकी बहानेबाजी करेगा। आश्रित होकर भी श्रद्धा नहीं होगी तो उसे वह चीज भारी लगेगी।

मनके विपरीत आज्ञा पाकर भारी नहीं लगे तो समझना चाहिये वह श्रद्धा है। इससे भी अधिक श्रद्धा हो तो प्रसन्नता होगी, और अधिक श्रद्धा होनेसे रोमांच होगा, अश्रुपात होगा और अधिक हो तो मन्त्रमुग्धकी तरह आँसुओंकी धारा बहेगी और उसके ऊपर भार छोड़ दिया जायगा। प्रश्नके रूपमें कहा जाय कि यह बात आपके जँचे तो यों कर लें, वे शब्द उस श्रद्धालुको भारी लगते हैं। वह समझता है कि तुम्हें यह शब्द इसलिये हैं कि इन्हें संशय है कि तू मानेगा या नहीं। तेरी श्रद्धा कम है, इस बातसे उसके मनमें दुःख होगा। और अधिक श्रद्धा हो तो संकेत-मात्रसे ही समझ जाय, उसे आज्ञा नहीं देनी पड़े। अपना भाव दूसरा है, श्रद्धेयका दूसरा भाव है। जिस समय यह बात समझमें आ गयी, उसी समय अपना भाव बदल जायगा। चाहे मनके कितने ही विपरीत हो, उनकी धारणा ही ठीक प्रतीत

होगी, अपनी धारणा गलत समझी जायगी। श्रद्धाकी कमी होनेपर बात बदली तो जायगी, किन्तु मनमें दुःख होगा, यानि प्रसन्नता नहीं होगी। यदि कम श्रद्धा होगी तो उत्तर-प्रत्युत्तर करेगा। बिलकुल श्रद्धा नहीं होगी तो मानेगा ही नहीं, विरोध करता है तो विपरीत श्रद्धा है। प्रसन्नतासे करे वह अधिक श्रद्धा है। जितनी ही प्रसन्नता होगी, प्रेमका प्रादुर्भाव होगा, उतनी ही श्रद्धा अधिक समझी जायगी। यह श्रद्धाका तत्त्व है। अब श्रद्धाका विषय दृष्टान्तसे समझाया जाता है—

श्रीरामचन्द्रजीकी माता और पिता यानि कैकेयी और दशरथमें श्रद्धा थी। जब पिताका बुलावा आया, सुनते ही जिस अवस्थामें रामचन्द्रजी थे, उसी अवस्थामें चले आये। कपड़े ठीक करनेका भी काम नहीं, संकेत पानेके साथ ही आ गये, कैसा व्यवहार है। आकर पिताको उदास देखते हैं। यों तो भगवान् सब जानते ही हैं, फिर भी मनुष्य-लीला करते हुए आश्चर्ययुक्त होकर मातासे पूछते हैं, पिताजी आज प्रसन्न क्यों नहीं हैं। मातासे इसलिये पूछते हैं कि मातासे कोई बात छिपी नहीं है। मेरेसे कोई अपराध तो नहीं बन गया है। पिताका सबसे बढ़कर प्रेम कैकेयीपर रहता है, उसीपर नाराज हैं, यह अनुमान कैसे किया जा सकता है। इसलिये पूछते हैं, क्या मेरेसे अपराध हो गया है। कैकेयी कहती है—नहीं, तुम्हारा अपराध नहीं है। अच्छे-से-अच्छे पुरुषको किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, यह बात भगवान् दिखा रहे हैं, अपना अपराध स्वीकार कर रहे हैं। अन्यथा मातासे पूछ सकते थे—माता क्या तेरा कोई अपराध है? कैकेयीने तब बताया—मैंने दो वरदान माँगे हैं, तुमको वनवास और भरतके लिये राजगद्दी। महाराज इसलिये दुःखी हैं कि तुम्हें

वनवास न हो। भगवान् राम कहते हैं—मेरे लिये यह बात है तो मेरी श्रद्धाकी कमी है। बात तो यह थी कि कैकेयीके कठोर व्यवहारको दशरथ सहन नहीं कर सकते थे। दशरथके हृदयमें यह बात नहीं थी कि राम मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेंगे, किन्तु कैकेयी यह व्यवहार कर रही है, भगवान् रामको वनमें भेजनेकी उनकी इच्छा नहीं है।

तब रामचन्द्रजी कहते हैं—इसमें संकोच करना ही नहीं चाहिए, इसमें मेरा सब प्रकारसे कल्याण है। वनमें ऋषियोंका मिलन, पिताजीकी आज्ञाका पालन, माताकी सम्मति, प्रिय भाई भरतको राजगद्दी, इससे बढ़कर सौभाग्यकी और क्या बात होगी। आप जानते हैं कि माता-पिताकी आज्ञापालनमें मुझे कितनी प्रसन्नता होती है। जब प्रसन्नता है तब संकोच नहीं होना चाहिये। वनमें मुनियोंका मिलन सब प्रकारसे मंगलकी बात है। रामचन्द्रजीको आज्ञा नहीं दी कि तुम वन चले जाओ। मनका भाव जाना, राजाका मन भी भेजनेका नहीं है, किन्तु वचनमें बँध गये हैं। राजाके मनमें प्रसन्नता न जानेमें है। यदि कहें कि तुम मत जाओ तो वचन दे चुके हैं, उसमें आपत्ति आती है। जानेके लिये कहा कैसे जाय, किन्तु रामचन्द्रजी सोचते हैं, यह मेरे लिये बड़े ही आनन्दकी बात है।

कैकेयीका वचन था कि आज यदि राम वनमें नहीं जायँगे तो मैं प्राण-त्याग दूँगी। यह बात रामचन्द्रजीको मालूम ही नहीं थी। उन्हें मालूम होता तो सम्भवतः माता कौशल्या आदिसे भी नहीं मिलते। भगवान् रामने माता कौशल्याको आकर यह बात सुनायी। माताने राजतिलककी तैयारी कर रखी थी। जब यह बात सुनी तो माताने नहीं कहनेयोग्य बात भी कही कि पिताजी

आज्ञा वनमें जानेकी है, किन्तु मेरी नहीं है। तब भगवान्ने कहा—पिताकी आज्ञा पहले हुई है, इसलिये पहले उसका पालन करूँगा, फिर आपकी आज्ञा पालन करूँगा।

उस समय माता कहती है कि तुम मेरी आज्ञाका पालन नहीं करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा। भगवान् रामने कहा—मुझे पाप नहीं लग सकता, क्योंकि मैं पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ। पिताजीकी आज्ञा-पालन न करनेकी शक्ति मेरेमें नहीं है। मैं सीताका त्याग कर सकता हूँ, अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, प्राणोंका त्याग कर सकता हूँ, किन्तु पिताजीकी आज्ञा-पालन न करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। कितने प्रभावशाली, शक्तिशाली भगवान् कहते हैं कि आज्ञा-पालन न करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं है।

आजकलके लड़के यह कहनेको तैयार हैं कि इस तरहकी बात किस प्रकार मानी जाय। यदि उस लड़केके हितकी भी बात हो, वह यह कहनेको तैयार है कि समझ-बूझकर कहा करें, हम आपकी बात किस तरह काममें लायें। कितना अन्तर है। अन्तमें माता कौशल्या कहती हैं कि तुम यदि मुझे वनमें छोड़कर चले जाओगे तो मेरे मरनेका पाप तुझे लगेगा। वहाँ बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। माता यही कहती है कि तुम्हारा न जाना ही ठीक है। भगवान् राम यही कहते हैं कि जाना ही ठीक है। अन्तमें कौशल्याने कहा कि पितासे माताकी आज्ञा पहले माननी चाहिये। तब भगवान् रामने कहा कि माता और पिता दोनोंकी ही आज्ञा है। तब कौशल्याने कहा जब कैकेयीकी भी आज्ञा है, तब मैं तुझे नहीं रोकूँगी एवं आशीर्वाद दिया। वन देवता तुम्हारी रक्षा करें। यह सब तो मनुष्य-लीला है। यहाँ यह दिखाया है कि मनुष्यको किस

तरह व्यवहार करना चाहिये। वन जाते समय उनके मुखकी मुद्रा कितनी प्रसन्न है। राज्य मिलनेके समय जो प्रसन्नता थी, उससे भी बढ़कर प्रसन्नता वन जानेमें है। यहाँपर भगवान् रामकी दशरथजीमें प्रेमकी प्रधानता नहीं, अपितु श्रद्धाकी प्रधानता है। प्रेम नहीं हो यह बात नहीं है, दशरथजीका रामजीसे प्रेम प्रधान था, श्रद्धाकी प्रधानता नहीं थी, श्रद्धा नहीं हो यह बात भी नहीं थी।

विश्वामित्रजीके साथ राम-लक्ष्मण गये। राजाने ऋषिको वचन दे दिया था कि आप कहेंगे वह करूँगा। जब उन्होंने राम-लक्ष्मणको माँगा, राजाने कहा कि ये मेरे प्राणोंके समान हैं, इन्हें कैसे दे सकता हूँ। वसिष्ठजीके समझानेपर राजाने उन्हें भेज दिया। उस समयका वियोग इतना भारी नहीं लगा, किन्तु इस समयका वियोग सहन नहीं हुआ। उन्हें उनको वनमें भेजना सब प्रकारसे अयोग्य-ही-अयोग्य दीखता है। बल्कि यह बात कही कि तुम मुझे बाँधकर भी राज्य करो तो ठीक है। सुमन्तको आज्ञा दी कि तुम रामको वापस ले आना। वह बात भी रामजीने नहीं मानी। दशरथजी उनके वियोगमें मर ही गये। जितने दिन जिये, वह जीना सिसक-सिसककर जीना हुआ। वह मरना भी प्रेमकी पराकाष्ठा सिद्ध करनेवाला है। दशरथजीका व्यवहार कैकेयीके साथ, रामजीके साथ एवं प्राण-त्याग अतिशय प्रेमका प्रदर्शक है। श्रद्धा कैसी होनी चाहिये? जैसी भगवान् रामकी दशरथजीमें थी। प्रेम कैसा होना चाहिये, जैसा दशरथजीका राममें था। श्रद्धेयके वचनोंका पालन न करना मरनेके समान है। यह बात भगवान् कह रहे हैं कि प्राणोंका त्याग कठिन नहीं है, जितना उनकी आज्ञाका पालन न होना। दशरथजी महाराज यह भी दिखा रहे हैं कि प्राण त्यागना इतना कठिन नहीं, जितना रामको त्यागना।

सीताजीको यह बात मालूम पड़ी कि महाराज वनको जाते हैं, वहाँ उन्होंने यह बात नहीं कही कि आप वन क्यों जाते हैं। उन्होंने यही कहा कि मैं भी साथ चलूँगी, यहाँपर भगवान्ने सीताको नहीं चलनेके लिये समझाया। सीताका आग्रह चलनेके लिये ही रहा, इसमें प्रेम ही प्रधान है, श्रद्धा नहीं। यह बात नहीं थी कि श्रद्धा नहीं थी, किन्तु दोनोंकी तुलनामें प्रेमकी प्रधानता थी। श्रद्धा भी होनी चाहिये, क्योंकि वे पतिव्रता थीं। सीताको इतना हठ क्यों करना चाहिये था? क्या श्रद्धामें कमी नहीं आयी? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धामें कमी आयी, किन्तु प्रेममें कमी नहीं आयी। यहाँ प्रेमके आगे श्रद्धाकी श्रेणी नीची है। भगवान् रामका पितामें प्रेम भी था, श्रद्धा भी थी, किन्तु प्रेमका त्याग हो गया, क्योंकि उस आज्ञापालनमें स्वार्थका त्याग है, इसी प्रकार सीताका भी यहाँ स्वार्थका त्याग है। रामचन्द्रजीके पास रहकर उनकी सेवा करना, राजमहलके भोगोंका त्याग करना, दूसरी बात उनके वियोगमें प्राण कैसे रहेंगे। पासमें रहूँगी तो सेवा भी बनेगी। श्रद्धामें कमी आयी, उस कमीकी रक्षा प्रेम करता है। प्रेमकी तुलनामें वह कमी कमी नहीं है। भगवान्के साथ रहनेका प्रेम तथा स्वार्थका त्याग, आरामको लात मारकर भगवान्की सेवा करनेके लिये भगवान्की आज्ञाका पालन नहीं कर रही हैं। सीताजीने कहा है—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(रामचरितमानस २। ६७)

ऐसे कठोर वचन सुनकर ही प्राण निकल जाने चाहिये थे। कठोर वचन क्या? उनका वहाँ रहनेके लिये कहना ही कठोर

वचन है। हृदयमें सास-ससुरकी सेवाका भी कैसा भाव था। विदा होते हुए कह रही हैं कि मैं आपकी सेवा नहीं कर सकी। साम, दाम, दण्ड, भेदसे वह साथ जानेके लिये तैयार हो गयीं। प्रश्न उठता है कि भगवान्के वियोगमें प्राण रहता ही नहीं, जब रावण ले गया, प्राण कैसे रहा। तुलसीदासजीने यहाँ यह बचाव कर दिया है कि असली सीताका हरण ही नहीं हुआ, वियोग हुआ ही नहीं। वाल्मीकि-रामायणमें यह दिखाया है कि मिलनेकी आशा थी। इस आशापर प्राणोंको रखा। तुलसीदासजीने यह बात दिखायी कि प्राण तो निकल जाते, किन्तु यदि किवाड़ बंद कर लिया जाय तो कोई कैसे निकल सकता है। भगवान्के चरणोंका ध्यान कपाट है एवं भगवान्का नाम पहरेदार है, वह रक्षा करता है।

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

जब भगवान्ने सीताका त्याग कर दिया, वह वाल्मीकि-आश्रममें रहीं, तब प्राण कैसे रहे। वहाँ सीताने लक्ष्मणके सामने यह बात कही है कि आर्य-पुत्रको जिस प्रकार सन्तोष हो, वही मुझे करना चाहिये। उनके वियोगमें मेरा जीवन कलंक है। मैं प्राणोंका त्याग कर देती, किन्तु मैं प्राणोंका त्याग नहीं करूँगी, क्योंकि मैं गर्भवती हूँ। मेरे प्राण त्यागनेसे उनके वंशकी रक्षा नहीं होगी, इसलिये उनके वंशकी रक्षाके लिये मैं प्राणोंका त्याग नहीं करूँगी। इसलिये उन्होंने प्राणोंका त्याग नहीं किया। जब भगवान्ने लंकामें सीताका त्याग कर दिया था, उस समयकी अवस्था देखो। रामने कितने कठोर वचन कहे। सीता समझती हैं कि मैं वास्तवमें पवित्र हूँ। वहीं अग्निमें प्रवेश कर गयीं, एक

क्षणके लिये भी ठहर नहीं सकीं। अग्नि-देवताने साक्षात् प्रकट होकर विश्वास दिलाया कि सीता निर्दोष है। अग्नि उन्हें जला नहीं सकी, ब्रह्मादिक देवता एवं शिवजीने अपने मुखसे कहा कि सीता निर्दोष है। उनके कहनेसे रामने सीताको स्वीकार किया, अन्यथा सीता अग्निमें प्रवेश कर ही गयी थीं। आप कहें कि प्रेमकी पराकाष्ठा तो उसमें अधिक थी कि बिना अग्निमें प्रवेश हुए ही वह प्राणोंका त्याग कर देती, क्या ऐसा प्रेम नहीं था। प्रेम तो ऐसा ही था, किन्तु संसारमें यह बात सिद्ध नहीं होती कि सीता निर्दोष है। वहाँ यह प्रमाणित किया कि साँचको आँच नहीं है। अग्नि भी उसे नहीं जला सकती। वे कलंक लेकर मरना नहीं चाहती थीं।

इसी प्रकार श्रद्धा और प्रेमका विषय भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्नमें है। यह विषय दूसरे अवसरपर कहा जा सकता है। कौशल्याका प्रेम राममें कम नहीं था। यह बात आती है कि दशरथजी मर गये, कौशल्याको भी मर जाना चाहिये था। प्राण किस प्रकार जायँ? भगवान् रामने कह दिया था कि मैं फिर आकर मिलूँगा। वह मिलनेका लोभ था, इसलिये प्राण नहीं गये। फिर आकर मिलूँगा यह बात रामने दशरथजीसे नहीं कही थी। उनके वचन देखिये—धन्य हैं महाराज दशरथको, जिन्होंने अपने प्राणोंको उनके साथ भेज दिया। मैं न शरीरसे साथ जा सकी, न प्राणोंको ही साथ भेज सकी, इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम कम नहीं था।

स्वामीजीने कहा कि आपके मनमें क्या बात आयी वह कहें। मेरे मनमें कल जो श्रद्धा प्रेमकी बात चल रही थी, वह कहनेकी आयी। भगवान् राम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे। उनके तीनों

भाइयोंकी उनमें श्रद्धा थी, प्रेम था। तीनों ही उच्चकोटिके महापुरुष थे। सबसे बढ़कर श्रद्धा-प्रेम भरतका कहा जा सकता है, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं कहा है, भरत मुझे सबसे प्यारा है। शत्रुघ्नके समान प्यारा है, यह बात नहीं कही है। भरतजी जिस समय मिलने आ रहे हैं, लक्ष्मणजी वीर रस और नीतिमें आकर कहने लगे कि भरतको मैं देखूँगा। महाराज रामने कहा—तू भूल कर रहा है, मुझे भरतके समान प्यारा कोई नहीं है। लक्ष्मणको उलाहना दे रहे हैं। वास्तवमें यह लीला है। लक्ष्मणजीमें कोई कमी नहीं थी। उनका उद्देश्य था भगवान् रामको सुख पहुँचाना, इसके लिये वे किसीसे भी टलते नहीं थे। पितासे भी नहीं टलते थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि रामको वनवास दिया है, वे एड़ीसे चोटीतक नाराज हो गये। कहा कि किसकी सामर्थ्य है कि आपको वनमें भेज सके। राजाको मैं बाँधकर कैद कर दूँगा। मेरे रहते हुए आपके साथ अनुचित व्यवहार कर सके, ऐसा किसका सामर्थ्य है। पिताके अन्यायपूर्वक कहे वचन हम नहीं मानते। इस प्रकार वीरताकी बात कही। तब भगवान् रामने कहा—भैया! तुमने वीरताकी बात कही, बड़ी अच्छी बात है, परन्तु पिताके लिये ऐसे वचन नहीं कहने चाहिये। मैंने निश्चय किया है कि मैं वन जाऊँगा। भगवान् राम वनमें जानेको तैयार हुए, तब लक्ष्मण भी साथ चलनेको तैयार हो गये। वाल्मीकि-रामायणमें बड़ा प्रकरण है। उन्होंने कहा है कि मैं पुरुषार्थके बलसे दैवको नष्ट कर डालूँगा। भगवान्‌ने उन्हें रोकनेके लिये बहुत आग्रह किया, तब भी वे नहीं रुके, साथ ही गये। जब भगवान्‌ने जानेके लिये मना कर दिया, तब लक्ष्मणने कहा—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

हे नाथ आपने ठीक बात कही, क्योंकि मैं आपके साथ जाने योग्य नहीं, मेरी कायरता ही है। यदि मैं आपके वियोगको नहीं सह सकता तो आप कभी मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। मैं आपके वियोगको सह सकूँगा, तभी आपने मुझे यहाँ रहनेके लिये कहा है। भगवान्‌ने जब देखा यह नहीं रहेगा, तब कहा— अच्छा माँसे आज्ञा लेकर आओ। माँ भी माँ ही थी। कहती है—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

वही नारी पुत्रवती है, जिसका पुत्र रघुवरका भगत हो, अन्यथा वह नारी बाँझ ही भली है। क्या राम और सीता वन जा रहे हैं, तेरा यहाँ क्या काम है। तेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है, तुमको सेवाका अवसर देनेके लिये भगवान् राम वनको जा रहे हैं।

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

हे तात! तेरे लिये ही रामको वनमें जाना है। तेरा भाग्य खुल गया। और दूसरा कोई हेतु है ही नहीं। सुमित्राकी कैसी श्रद्धा है। माँ और क्या कह सकती है। मेरे संगसे बढ़कर रामका संग सीताका संग है। सच्ची माँ या तो सुमित्रा या मदालसा या मैनावती मानी गयी है। ये माता पुत्रके लिये साक्षात् महात्मा हैं। वही नारी नारी है, जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त हो। लक्ष्मणने वनमें जाकर कैसी अलौकिक सेवा की है।

वनमें जहाँ भगवान्‌ने विश्राम किया था, वहाँ भरत गये एवं विलाप करने लगे। मेरे कारण जनकनन्दिनीको भूमिमें शयन करना पड़ा, वे रोने लगे। उस समय गुहने प्रशंसा की कि लक्ष्मण सोये नहीं, रातभर पहरा दे रहे थे। रातभर वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करते रहे। यह सुनकर भरत कहने लगे। लक्ष्मण धन्य है,

मुझे धिक्कार है। जब भगवान् चौदह वर्षके बाद वापस नहीं आये, तब भी भरत लक्ष्मणकी प्रशंसा कर रहे हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

लक्ष्मणजीके प्रेमकी क्या बात जिनकी भरत प्रशंसा कर रहे हैं। लक्ष्मणजीने आजीवन भगवान्‌की सेवा की। लक्ष्मणजी रामचन्द्रजीके साथ ही रहे, किन्तु भरतजीने उनके विरहमें व्याकुल रहकर मुनि वेश धारणकर उसी प्रकारका समय बिताया, जिस प्रकार लक्ष्मणजीने बिताया।

इसलिये भरतजीकी और भी विशेषता थी। किसी भी रामायणमें सिवाय चौदह वर्षके भरतके वियोगकी बात नहीं आती। उसके पहले मामाके यहाँ गये थे, किन्तु भरतजी भगवान्‌की ओर तब प्रभावित हुए, जब भगवान् राम वनको पधारे। उन्होंने जब सुना भगवान् राम वनको पधार गये, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे कैकेयीपर क्रोधित हुए, कहा—बता दुष्टा तू कौन है। मैं तेरा अभी सिर उतार डालता, किन्तु रामके डरसे तुम्हें नहीं मारता। कारण राम मातृ-हत्यारा समझकर मेरा त्याग कर देंगे। शत्रुघ्नजीका प्रेम कम है, यह नहीं समझना चाहिये। भरतजी माताको डाँट रहे हैं। उस समय मंथरा आ गयी, शत्रुघ्नजी उसे मारने लगे। वे उसे जानसे मारना चाहते थे। भरतजीने छुड़ाया कि स्त्रीकी हत्या करना ठीक नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि शत्रुघ्नका प्रेम कम नहीं है। वे लवणासुरको मारने गये थे, वह भी विवश होकर भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही गये थे।

वाल्मीकि-रामायणमें यह कथा आती है। भगवान् राम जब परलोक पधारने लगे, तब शत्रुघ्नको भी बुलाया। उन्होंने आते

ही कह दिया—महाराज! मैं साथमें ही चलूँगा। मुझे यहाँ रहनेके लिये मत कह दीजियेगा। इससे शत्रुघ्नका प्रेम कम नहीं समझा जाता, तीनोंमें ही पूर्ण प्रेम एवं पूर्ण श्रद्धा थी। आज्ञाका उल्लङ्घन न कर सकना यही श्रद्धा है, विरह न सह सकना यही प्रेम है। जब वनमें जाकर भरतजी रामचन्द्रजीसे मिले तो कहा कि ऐसे पिताकी बात नहीं माननी चाहिये। तब रामने कहा—भैया! ऐसी बात तुम्हें नहीं कहनी चाहिये। पिता सत्यवादी थे। उन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्राणोंका भी त्याग कर दिया। तब भरतने कहा—अच्छा, अपने बदला कर लें। आप राज्य करिये, मैं वनमें रहूँगा। तब रामने कहा—ऐसे कैसे हो सकता है। भरतने कहा—भैया! मैं लौटकर नहीं जाऊँगा, उपवास, व्रत करके प्राणोंका त्याग कर दूँगा। रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीको संकेत किया। वसिष्ठजीने कहा—भरत! राम जो आज्ञा करें। उसे तुम्हें मानना चाहिये। तुम्हें अपने जीवनके आधारके लिये चरणपादुका माँग लेनी चाहिये। भरत मान गये, भगवान् रामसे चरणपादुका माँगी। चरणपादुका ही उनके जीवनका आधार है, अन्यथा वे एक दिन भी भगवान्के वियोगमें जीवित नहीं रहते।

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

विचार करना चाहिये उनका कितना प्रेम था। प्रेमकी पराकाष्ठा थी। आप कहें प्रेम तो सिद्ध हो गया, किन्तु श्रद्धा कहाँ सिद्ध हुई। वे भगवान्को लौटनेके लिये हठ करते हैं। यहाँ प्रेमकी प्रधानता थी, वह प्रेम भी हेतुरहित प्रेम था। कितना स्वार्थका त्याग है। राज्यको ठुकराकर वनमें रहनेका आग्रह—यह दोष नहीं है। इससे श्रद्धामें कमी नहीं समझनी चाहिये। प्रेमकी प्रधानतामें यदि श्रद्धामें कमी देखनेमें आवे तो वहाँ प्रेमकी प्रधानता समझ लेनी चाहिये,

वहाँ सब चीज क्षम्य है। आप कहें कि चौदह वर्ष भगवान्‌के वियोगमें रहे। क्या प्रेममें कमी नहीं आयी। वहाँ श्रद्धाने उनकी रक्षा की। अवधि बीतने पर भी उनके प्राण रह जाते तो कमी समझी जा सकती थी।

लक्ष्मणजी रामका वियोग सहनकर सीताजीको वन छोड़ने क्यों गये। भगवान् रामने ऐसा करनेकी उन्हें शपथ दिला दी थी, इसलिये वे रोते हुए गये, रोते हुए ही आये। वहाँ प्रेमकी कमी कैसे समझी जा सकती थी।

चारों भाई साथ ही आये, साथ ही गये, साथ ही रहे। किसीका अलग रहना हुआ वह भी भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही। चारोंका कितना प्रेम था, कितनी श्रद्धा थी। भरतजीका हृदय बहुत कोमल था। भगवान् रामके वापस लौट आनेपर किसी भी रामायणमें यह बात नहीं आती कि वे भगवान्‌को छोड़कर कहीं गये हों। वे भगवान्‌की सेवामें ही रहे। हमें शिक्षा लेनी चाहिये कि माता-पिताकी आज्ञाका किस प्रकार पालन करना चाहिये? जिस प्रकार भगवान् रामने की। भाइयोंका परस्परमें इतना प्रेमका व्यवहार आपको कहीं नहीं मिलेगा। हमें परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारा आपसका व्यवहार इसी तरहका हो। धन्य है उनके माता-पिताको, जिनका व्यवहार शतांशमें भी ऐसा है। भगवान् राम और उनके तीनों भाइयोंका प्रेमका व्यवहार प्रेमकी पराकाष्ठा थी। हम चेष्टा करें तो भगवान्‌की कृपासे ऐसा व्यवहार कर सकते हैं।

उत्तम आचरण, ईश्वरकी भक्ति सहजमें ही हो सकती है। इस धारणासे वह सहज हो जायगी, निराश हो जायँगे तो कठिन हो जायगी। ऐसे ही हम जोश रखें तो दुराचारसे बच जायँगे।

निराश हो जाओगे तो उन्हें स्थान मिल जायगा। दुर्गुण दुराचारोंका त्याग करता रहे। उन्हें हराकर निकलना कुछ भी बड़ी बात नहीं समझे। सद्‌गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्तिके लिये समझे कि इनके न होनेका कारण ही क्या है। तीसरी बात है आत्मा सत्य संकल्प है। वह जिस प्रकारकी धारणा करेगा वह सत्य ही होगी। सबमें गुण देखें। सबको अच्छी वृत्तिसे देखें, इससे परस्पर श्रद्धा-प्रेम बढ़ेगा। अच्छा भाव होगा तो बात खुलकर होगी। एकको देखकर एक मुग्ध होगा। यह वृत्ति अच्छे वातावरणको पैदा करनेवाली है।

अपनी धारणा और श्रद्धासे महान् लाभ

सच्चिदानन्द भगवान्‌की प्रत्यक्षकी तरह जागृति और जो कुछ दीखता है उसका अभाव तथा चेतना, विज्ञान, आनन्द इनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये। अन्य जो कुछ है उसे कुछ भी महत्त्व नहीं देना चाहिये। इस प्रकार हर-एक कार्यको ठीक समझकर अभ्यास करना चाहिये। भक्तिमार्गमें जो कुछ है वह भगवान्‌का स्वरूप है, भगवान्‌की लीला है। इस प्रकार समझकर हर्षित होता रहे। यदि कोई विशेष मन, इच्छासे सुनना चाहे तो मैं इतना साहस करके कहता हूँ कि निर्गुण निराकार परमात्माका ध्यान उनके लग सकता है। मैं अहंकारके शब्द बचाकर कहता हूँ कि उसका ध्यान लग सकता है। इसी प्रकार सगुण साकारके विषयमें ऐसी अवस्था अभ्यास करनेसे मैं उसके साथ रहकर बतला सकता हूँ, जिससे उसे ऐसा प्रतीत होने लग जाय कि मैं भगवान्‌के साथ कार्य कर रहा हूँ। थोड़े कालमें उसकी ऐसी स्थिति हो सकती है। मैं कहना नहीं चाहता हूँ। मैं यही कह सकता हूँ कि भक्ति और ज्ञानके विषयमें जो मैं जानता हूँ ठीक जानता हूँ। इतना ही नहीं कोई दूसरा व्यक्ति जानना चाहे, उसके विशेष आग्रह हो, उसे जना सकता हूँ। उसको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मेरी ऐसी अवस्था हो सकती है। जैसा वह पात्र हो साकार या निराकारका, वह इस बातका विश्वास करे। जिसका बहुत ही कम ध्यान लगता हो, वह यह समझे कि ये ध्यान लगवा सकते हैं तो उसका ध्यान लग सकता है। मैं ध्यान लगवा सकता हूँ, ये शब्द भगवान्‌को सहन नहीं हैं। कोई भी बात हो, न्यायविरुद्ध बात भगवान् सुनना नहीं चाहते। मैं मेरेमें दूसरोंकी

ऐसी आशाका आरोप भी नहीं करने देता हूँ। इतनी गुंजाइश तो देता हूँ कि मेरेमें इतनी योग्यता नहीं है, किन्तु दूसरा व्यक्ति ऐसी धारणा करे तो वह लाभ उठा सकता है। परमात्माकी प्राप्ति मैं करा सकता हूँ, यह अधिकार मैं नहीं समझता हूँ, किन्तु उसका ध्यान लगवा देना, उसे ऊँचे साधनमें स्थित कर देना यह मैं कठिन नहीं समझता हूँ। शास्त्रोंमें और लोकमें चमत्कारी बातें आती हैं। नरोत्तम ब्राह्मणकी कथामें चमत्कारी बातोंको मैं इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं समझता हूँ, फिर यह शास्त्रोंमें क्यों दिखलायी? इसका कारण है कि नरोत्तम ब्राह्मण उन चमत्कारोंको महत्त्व देता था। आध्यात्मिक दृष्टिसे वह मूल्यवान् नहीं है। परमात्मविषयक चमत्कार मूल्यवान् हैं। मैं इस मकानको दो हाथ ऊँचा उठा दूँ, इस चमत्कारसे क्या लाभ होगा। यह राक्षस कर सकते हैं। हाँ अद्‌भुत-सी बात देखकर लोगोंके श्रद्धा हो जाय, यह बात थोड़ी-सी हो सकती है, किन्तु अध्यात्म मार्गमें आगे बढ़कर परमात्माको प्राप्त हो जायँ तो उसका जीवन सफल हो जाय। कोई बाजीगर अद्‌भुत खेल दिखाये, हमें उससे क्या लाभ हुआ। एक सेर आटेसे पचास लोगोंको भोजन करा दिया, आटा सेर भर ही रह गया। इस चमत्कारसे क्या लाभ हुआ। आध्यात्मिक विषयका चमत्कारी ही असली चमत्कारी है। परमार्थ मार्गमें सिद्धियाँ बाधक ही हैं। ऐसी-ऐसी बातें हैं, जिनके सुननेसे भाव बदल जाना चाहिये। सुनकर भाव न बदलनेमें क्या हेतु है। यह समझमें नहीं आता है। यह बात कहनेपर भाव परिवर्तन नहीं होता है, फिर उसके आगेकी बात कहनेकी कैसे हिम्मत हो। इसलिये न्याय आकर प्राप्त होता है कि आप यदि मानें तो आपकी स्थिति हो सकती है। मैं वास्तवमें ऐसा नहीं हूँ। कोई

कहे कि आपके कोई अच्छा भाव आरोप करे तो आप खण्डन कर देते हैं, उसे गुंजाइश क्यों नहीं देते। उसे गुंजाइश देनेसे या तो वह हमारा अभिमान समझेगा या और कुछ धारणा करेगा। उसकी वैसी स्थिति हो जानी चाहिये। स्थिति नहीं होती है तो वैसी बात नहीं कहनी चाहिये।

विशेष लाभ नहीं समझा जाय तो वक्ताका अनधिकार चर्चा करना है। पहले यह बात कही गयी कि साधक विश्वास करे तो हो। इससे यह प्रश्न हो सकता है कि स्वभावसिद्ध बात है या साधकका विश्वास प्रधान है। इसमें दोनों ही बातें हैं। मुझे यहाँ मानना चाहिये कि श्रद्धा ही फलीभूत होती है। साधकको यही मानना चाहिये स्वभावसिद्ध चीज है।

साधक अपने साधनका फल मानने लगे तो उसकी श्रद्धा कायम नहीं रहेगी। मैं यह मानने लगूँ कि मेरे प्रभावसे ध्यान लगता है तो मेरा प्रभाव कायम नहीं रहेगा। इसलिये मेरा मानना यही होना चाहिये और उसका मानना वही होना चाहिये। यह सब बात न्यायकी कसौटीपर कसो तो लाभकी है। शास्त्रकी कसौटीपर चलो तो शास्त्रकी, परमार्थकी कसौटीपर चलो तो परमार्थकी है। सभ्यताके ऊपर लावे तो सभ्यतामें कमी है। आपका कर्तव्य बताना सभ्यतामें कमी है। निरपेक्षतासे, न्यायसे कहे तो वह बात ठीक है। न्याय होते हुए भी वक्ताके द्वारा वक्ताकी प्रशंसा होना न्याय नहीं है। अपना यही सिद्धान्त रहना चाहिये जो होता है, ठीक होता है। जो करे वह विचारकर करे। हो उसे ठीक मानें। करना स्वाधीन है, उसे ठीक करे, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करे, होता है वह ठीक है, भगवान्‌की इच्छाके अनुसार ही होता है।

सुनी हुई बातोंको आचरणमें लानेसे ही लाभ

क्या सुनायें, लोग सुनना नहीं चाहते। सुनते हैं तो करते नहीं। मरणासन्न मनुष्यका मल-मूत्र साफ करना बड़ी सेवा है; वह तो दूर, पर भगवान्‌का नाम और कीर्तन सुनाना भी कठिन हो रहा है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

भगवान्‌ने कह दिया कि कोई शंकाकी बात नहीं है। इसमें कोई शंका करे तो क्या कहें। रोगी स्वयं परमात्माका भजन-ध्यान करना चाहे। ऐसा मिल जाय तो कहना ही क्या है। कहीं रोगी मिले तो घरवाले नहीं मिलते।

चार सौ लोगोंको छोड़कर भी ऐसे रोगीको सुनाना अधिक अच्छा है, क्योंकि यदि एकका भी कल्याण हो गया तो आपका काम बन गया। ज्ञानकी दृष्टिसे सभी अपनी ही आत्मा हैं। किसी भी शरीरकी आत्माका कल्याण हुआ तो अपना ही कल्याण हुआ, क्योंकि अपनी ही आत्मा है।

एक भाई रात-दिन इस तरह सुना नहीं सकता है। न मालूम किसकी पारीमें वैसा अच्छा अवसर आये। यह भजन-सत्संगसे

प्रवचन दिनांक—१-५-१९४१, दोपहर, स्वर्गाश्रम।

बढ़कर है। इसमें अपना भजन होता है एवं दूसरेको भी सुननेको मिलता है।

इससे यही मालूम पड़ता है कि लोग जिस बातको युक्तिसे समझ लेते हैं, उसे तो मान लेते हैं, पर जो बात युक्तिकी नहीं हो, भले ही वह चीज सोना हो, उसे ग्रहण नहीं करते।

स्त्रियाँ रसोई बनाती हैं, उस समय पुरुष वर्ग अपना पूजा, पाठ, संध्या करना छोड़कर भी बच्चेको खिलाते रहते हैं और इसे आवश्यक कार्य समझते हैं। यदि ऐसे कामोंको ही आवश्यक समझ लेंगे तो धीरे-धीरे पूजा-पाठ सब छूट जायँगे।

प्रातःकाल जो ध्यानकी बात बतलायी, यदि उसपर ध्यान देकर काममें लायें तो उसीसे लाभ हो जाय। सुनकर यदि उसका अनुष्ठान नहीं करें तो यही समझा जा सकता है कि उसकी उसमें रुचि नहीं है। जैसे कोई विष खा ले और उसे विष उतरनेका उपाय बतलाया जाय तो वह कैसे शीघ्रता एवं तत्परतासे उसका उपाय करता है। यह विष तो उससे भी बहुत बढ़कर है। चौरासी लाख बार जन्मना-मरना पड़ेगा। पर क्या किया जाय, भगवान्के वाक्यपर लोग विश्वास नहीं करते।

किसीको कोई सेना घेर ले और उससे कोई बचनेका उपाय बतलाया जाय तो कितने ध्यानसे सुनता है। महाराज युधिष्ठिरसे विदुरने लाक्षा-भवनसे बचनेकी बात संकेत मात्रसे म्लेक्ष भाषामें कही थी। वे उसे अच्छी तरह समझ गये थे।

ऐसी बात नहीं होती, इसका कारण यही है कि श्रद्धा-विश्वास नहीं है। इसी प्रकार जो बात बतलायी जाती है, उसमें विश्वास हो तो तुरन्त ही पालन होने लगे।

जैसे कहें कि आगे दलदल है, मत जाओ, फँस जाओगे। फिर भी जाय तो उसे विश्वास कहाँ हुआ। अन्यथा यह तो केवल सुननेका व्यसन है। दूसरी बातोंके व्यसनसे यह व्यसन अच्छा है।

शास्त्रोंमें बहुत-सी मूल्यवान् बातें बतलायी गयी हैं। उनमेंसे एक भी बात मान ले तो बेड़ा पार है। केवल समताके सेवनसे ही उद्धार हो जाता है। केवल महात्माओंपर श्रद्धा कर ले तो बेड़ा पार है, अनन्य प्रेम कर ले तो बेड़ा पार है। और कुछ नहीं हो सके तो भगवान्‌को हर समय हृदयमें रखे, जैसे गोपियाँ हर समय भगवान्‌को याद रखती थीं, उसी तरह करे तो बेड़ा पार है। यह न कर सके तो हर समय नाम-जप करता रहे। ऐसे और भी सरल उपाय हैं, जिसमें कोई सा भी सरल-से-सरल उपाय कर ले।

गीताके श्लोकोंमेंसे एक श्लोक जो जँचे, उसे ही आचरणमें ले आये तो बेड़ा पार है।

कम-से-कम और कुछ न करो तो एकान्तमें जाकर बैठो। आँख बन्द कर लो। कानमें कोई चीज सुननेमें आयी तो विरोध न करो। सोचो कि जो कुछ सुने वही ब्रह्म है। इसमें शास्त्र और उपनिषद् प्रमाण हैं। आप मन्दिरमें मूर्तिको मानकर पूजनेवाले हैं, पार्थिवसे शब्द बढ़कर ही है।

एक भाई बोला कि हमारे तो संसारके ही संकल्प आते हैं? संकल्पको हटानेकी आवश्यकता नहीं है। संकल्पको ही भगवान् समझें। पहाड़, हाथी जो दृष्टिमें आये उसे ही भगवान् मानो। इससे बढ़कर शास्त्र क्या बतायेंगे। तुम्हें जो अभिमत है वही उपाय करो।

सूर्य, चन्द्रमा भगवान्‌की आँख, समुद्र पेट, पहाड़ हड्डियाँ हैं। वायु भगवान्‌का श्वास है। दिशाएँ भगवान्‌के कान हैं। इतने बड़े भगवान्‌की उपासना करो। जो दीखता है उस भगवान्‌की उपासना करो। अर्जुनको भगवान्‌ने यही उपाय बतलाये।

कानोंमें जो शब्द आये, उसे ही ब्रह्म मानो, अर्थको मत समझो। एक बनिया बाजार जा रहा था। उसके साथ उसका लड़का था। एक व्यक्ति उसे गाली देने लगा। लड़केने कहा—वह आपको गाली दे रहा है। बनियेने कहा—अपने न गाली लेनी है, न खरीदनी है। भाव यह है कि अपने ध्यान ही नहीं देना है।

एक भाई ऊँटपर बैठकर जा रहा था। वह उस ऊँटको गाली देता जा रहा था। उससे किसीने पूछा-गाली किसे लग रही है। उसने कहा—जो इसका अर्थ समझे।

देवताओंको ब्रह्माजीने शब्द ब्रह्मका ही उपदेश दिया था। राक्षसोंने विघ्न डालना प्रारम्भ किया। पहले राक्षसोंने बहुत बड़ाई की। बड़ाई देवताओंको बड़ी प्यारी लगी, बादमें निन्दा की, खूब गाली दी, इससे राग-द्वेष हो गया। वे फिर ब्रह्माजीके पास गये, उन्होंने फिर दूसरी उपासना बतलायी।

कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्थकी ओर ध्यान न दे। ध्यान जाये तो उसे छोड़कर दूसरी उपासना करे। समता रखे। समता ही अमृत है, समता ही भगवान् है।

योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन्हें धारण करनेसे विवेक जाग्रत् होता है। अन्तःकरणका मल नष्ट हो जाता है।

योगके अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, फिर ज्ञानकी दीप्ति प्रकाशित होगी। जैसे एक दर्पण है, उसे कोई साफ कर दे तो दर्पण विशेष चमकने लगता है। इसी प्रकार अन्तःकरणका मल दूर होनेपर बुद्धि देदीप्यमान हो जायगी। ज्ञानकी दीप्ति हो जायगी। उस दीप्तिकी सीमा है विवेकख्यातितक और उससे मुक्ति हो जायगी। विवेकख्याति गुणका वाचक है, पुरुषका नहीं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम हैं।

परहित ही सार है

कबिरा मन तो एक है भावे जहाँ लगाय।
भावे हरि की भक्ति कर भावे विषय गमाय॥
कहता हूँ कहि जात हूँ कहूँ बजाऊँ ढ़ोल।
स्वासा खाली जात है तीन लोकका मोल॥

शरीरसे खूब कसकर काम लो, जैसे किरायेकी मोटरसे कसकर काम लेते हैं। ऐसे ही शरीरको मोटर समझे। इसपर दया करना घाटेकी बात है, खूब कसकर काम लो। आराम चाहो तो सोओ, कोई हिसाब लेनेवाला नहीं है। हिसाब एक साथ ही लिया जायगा। यह सब बात सोचकर सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

सुननेके समय तत्परतासे सुने। यह वचन रोम-रोममें प्रविष्ट हो जायँ, फिर मनन करे और उसका अनुष्ठान करे।

संसारके भोगोंमें खूब वैराग्य करके उपरामता करे। मन, इन्द्रियोंसे खूब संयम करे, खूब साधन करे। गीता और उपनिषदोंका रहस्य आपकी सेवामें निवेदन किया जाता है। इसमें आकर्षण होना चाहिये और समझना चाहिये कि गीता साक्षात् भगवान्‌के वचन हैं। हम महात्माके वचन इतना भी आदर नहीं देते हैं।

परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है, फिर भी मार्ग पहाड़-सा कठिन हो रहा है। कमर कसकर तैयार हो जाय।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(गीता ६। २३)

प्रवचन दिनांक—२-५-१९४१, दोपहर, स्वर्गाश्रम।

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।

दुःखोंकी प्राप्तिका अत्यन्त अभाव हो जाय। उस योगका कटिबद्ध होकर वैराग्ययुक्त चित्तसे अनुष्ठान करना चाहिये। घर, रुपये, व्यापार छोड़कर यहाँ इसीलिये आये हैं। जिस कामके लिये घर छोड़कर आये हैं, वही काम करना चाहिये। खूब जोरसे वैराग्यपूर्वक तत्परतासे लगना चाहिये। उसे प्राप्त करनेपर सब कुछ प्राप्त हो जाता है, कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता।

यहाँ जितने लोग आये हैं, उन्हें जिस प्रकारसे सुधार हो, वही करना चाहिये। एक-दूसरेको बड़े प्रेमसे आनन्दसे देखे, आपसमें इस तरह मिलें जैसे भगवान् मिल गये। इसी तरह स्त्रियाँ भी परस्पर मिलें। इतना न हो सके तो सबको भगवान्‌के भक्त समझें। भगवान्‌ने कहा है—**'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** जो भगवान्‌की भक्तिके लिये आये, वही भगवान्‌का भक्त है। उसकी सेवा मिल जाय तो भगवान्‌की ही सेवा समझे। दो चार व्यक्ति कहीं भी इकट्ठे होकर बैठें तो सब प्रेममें मुग्ध हो जायँ और प्रेम-भक्तिकी चर्चा करें। जैसे गोपियाँ भगवान्‌की बात करती थीं। एक भगवान्‌की ही बात करे। कोई दूसरी बात चला दे तो नारायण-नारायण करके उस बातको रोक दे। उस भाईको तो नारायण ही समझे, पर इस बातसे प्लेगकी बीमारीकी तरह परहेज करे।

दो चार लोग भी पूर्ण रूपसे नजर नहीं आते तो क्या करें। इतना सरल मार्ग है, उसपर भी लोग नहीं चलते। एकान्तमें बैठकर भगवत्-चर्चा करे अथवा एकान्तमें बैठकर जप और ध्यान करे। कहीं किसी भाईकी थोड़ी भी सेवा मिल जाय तो आजका जीवन

सफल हो गया, यह समझे। सेवा करनेवाला कोई भी स्त्री या पुरुष हो, उसे सेवा मिल ही जाती है, पर सेवाका महत्त्व समझना चाहिये। अपने शरीरकी सेवा और निद्रा, मैथुन, आहार—ये तो पशु भी जानते हैं। इसमें तो गधे और कुत्ते भी निपुण हैं।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

× × × ×

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥

हे दयामय गुरुदेव! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है? विश्वपति परमात्माके चरणकमलरूपी जहाज।

ईश्वर ही बड़ी नौका है, उसकी शरण लेनी चाहिये। इस समय उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति हमें सुलभ है। आर्यावर्त देश, कलियुगके समान युग नहीं, सनातन-धर्मके समान धर्म नहीं और सत्संग—यह सब सुंदर संयोग बैठकर भी हमारा उद्धार नहीं हो तो बड़े ही पश्चात्तापकी बात है। जबतक यह शरीर मिट्टीमें नहीं मिले, तबतक चेष्टा करनी चाहिये, अन्यथा—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

खूब मन लगाकर सेवा करनी चाहिये—

परहित बस जिन्ह कें मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
निजहित बस जिन्ह कें मन माहीं। तिन्ह कहँ सब दुर्लभ जग माहीं॥

अपने हितमें रत रहनेके लिये किसीको शिक्षा देनेकी आवश्यकता नहीं है। यह जन्मसिद्ध बात है। बच्चा माँका एक स्तन चूसता है तो दूसरा भी पकड़े रहता है, अतः हमें सिखानेकी आवश्यकता नहीं है।

सारी कठिनता दूसरेके हितमें है। अतः स्वार्थ त्यागका व्यवहार करो और संसारसे भलाई लेकर जाओ। अपने साथ जो बुराई-वैर करे, उससे भी भलाई और प्रेम करे। ऐसा पुरुष भलाईको लेकर जाता है। वही एक नम्बर है। दो नम्बर वह है जो बुराई करनेवालेके साथ बुराई नहीं करे, पर भलाई भी नहीं करे। बुराई करनेवालेके साथ बुराई करना और भलाई करनेवालेके साथ भलाई करना तो पशुतुल्य है। एक कुत्ता काटता है तो दूसरा भी काटता है, एक चाटता है तो दूसरा भी चाटता है।

मध्यदेशमें गौतम नामका एक ब्राह्मण रहा करता था। वह वेद बिलकुल नहीं पढ़ा था। एक डाकुओंके गाँवमें वह भीख माँगने गया। वहाँ एक धनी डाकू रहता था, वह ब्राह्मणभक्त था। ब्राह्मणने उसीके घर जाकर याचना की। दस्युने ब्राह्मणके रहनेके लिये घर, वर्षभर निर्वाहके लिये अन्न एवं सेवाके लिये एक युवती दासी भी दे दी। डाकुओंके संगसे गौतम भी उनके समान ही पूरा डाकू बन गया एवं उस दासीको ही अपनी स्त्री बना लिया। वहाँ रहते हुए उसे कई माह बीत गये।

उसके गाँवमें एक बार एक सदाचारी ब्राह्मण आये एवं ब्राह्मणका घर ढूँढ़ते हुए उसके घर पहुँचे। कुछ समय बाद गौतम कन्धेपर मारे गये पक्षियोंको लादे हुए आया। ब्राह्मण गौतमके गाँवका एवं उसका मित्र था। उन्हें देखकर गौतम बहुत लज्जित हुआ। ब्राह्मणने उसे बहुत धिक्कारा एवं उसके अनुनय-विनय

करनेपर भी उसका जल भी ग्रहण नहीं किया तथा उसे यह स्थान एवं कुकर्म छोड़नेके लिये कहा।

प्रात:काल गौतम घर छोड़कर समुद्रकी ओर चल दिया। रास्तेमें रात्रि होनेपर वह एक विशाल बरगदके नीचे रुक गया। उस समय वहाँ एक बगुला आया जो महर्षि कश्यपका पुत्र एवं ब्रह्माजीका प्रिय सखा था। वह बगुलोंका राजा एवं राजधर्माके नामसे विख्यात था। वह वृक्ष उसका निवास स्थान था। ब्राह्मण भूखा-प्यासा था एवं बगुलेको देखकर उसे मारकर खानेका विचार किया। बकराजने कहा—आपका स्वागत है। आप मेरे घर पधारे हैं। मैं उत्तम विधिसे आपका आतिथ्य करूँगा। राजधर्माने ब्राह्मणको फूलोंका आसन दिया। गंगाजीसे कुछ मछलियाँ लाकर दीं तथा अग्निकी व्यवस्था की। गौतम उन्हें पका-खाकर तृप्त हो गया। तब बकराज अपने पंखोंसे उसे हवा करने लगा एवं उसके यहाँ आनेका कारण पूछा। गौतमने कहा— मैं धनके लिये समुद्र तटपर जा रहा हूँ। बकराजने प्रसन्न होकर कहा—वहाँतक जानेकी आपको आवश्यकता नहीं है। आपका कार्य यहीं हो जायगा। यहाँसे तीन योजन दूर स्थित नगरमें महाबली राक्षसराज विरूपाक्ष रहते हैं। वे मेरे प्रिय मित्र हैं। आप उन्हें मेरा नाम बता दीजियेगा। वे आपकी इच्छा पूर्ण करेंगे।

राक्षसराज विरूपाक्षने अपने प्रिय मित्र राजधर्मा द्वारा भेजे हुए ब्राह्मणका यथेष्ट स्वागत किया एवं जितना धन गौतम ले जा सकता था, उसे ले जानेके लिये कह दिया। गौतमने बहुत अधिक भार उठा लिया एवं बरगदतक बड़ी कठिनतासे पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही वह भूख-प्याससे व्यथित एवं थककर बैठ गया। मित्रवत्सल राजधर्मा गौतमके पास आया एवं उसका अभिनन्दन

किया। पंखोंसे उसे हवा की एवं उसके भोजनकी व्यवस्था की। भोजनके पश्चात् विश्राम करते समय गौतम सोचने लगा—मैंने लोभ एवं मोहमें पड़कर यह सुवर्णका महान् भार ले लिया है। मार्गमें खानेके लिये मेरे पास कुछ नहीं है। यह बगुला मांसका ढेर है। इसे मारकर इसका माँस ले चलूँ। बगुला गौतमको मित्र मानकर उसके पास सो गया था। गौतमने सोते हुए बगुलेको मारकर उसका माँस ले लिया एवं पँख, हड्डी आदि वहीं छोड़कर चल दिया।

राजधर्मा नित्य प्रति प्रातःकाल ब्रह्माजीको प्रणाम करने जाता था एवं सायंकाल अपने मित्र राक्षसराज विरूपाक्षसे मिलते हुए घर लौटता था। दो दिनसे राजधर्मा नहीं आया। राक्षसराजने अपने पुत्रसे कहा—बेटा दो दिनसे मित्र राजधर्मा नहीं आया। उसका भेजा हुआ ब्राह्मण मुझे स्वभावसे निर्दय, दुष्ट एवं डाकुओंकी-सी वृत्तिवाला जान पड़ता था। मुझे मेरे मित्रके लिये शंका हो रही है कि कहीं इस ब्राह्मणने उसे मार तो नहीं दिया। तुम शीघ्र जाकर पता लगाओ।

राक्षसराजके पुत्रने वृक्षके नीचे राजधर्माके पंख आदि अवशेष देखे। उसने राक्षसोंको दौड़ाकर गौतमको पकड़ लिया एवं राक्षसराजके पास लाकर सारा वृत्तान्त बताया। राक्षसराज फूट-फूटकर रोने लगा एवं राक्षसोंको आदेश दिया—इस ब्राह्मणाधमको मारकर खा जाओ। राक्षसोंने गौतमको मार डाला एवं यह कहकर खानेसे मना कर दिया कि कृतघ्नका मांस हम नहीं खा सकते। राक्षसराजने कहा—यह मांस डाकुओंको दे दो। दस्युओंने भी कृतघ्नका मांस खानेसे मना कर दिया तथा कहा कि मांसाहारी जीव-जन्तु भी कृतघ्नका मांस नहीं खाते। राक्षसराजने बकराजका दाहकर्म विधिपूर्वक सम्पन्न किया।

दक्षकन्या सुरभि देवी उसकी चिताके ऊपर खड़ी हो गयीं। उनके मुखसे कुछ फेन चितापर गिरा जिससे बकराज जीवित हो उठा एवं विरूपाक्षसे जा मिला। उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्षकी सभामें आये। उन्होंने कहा—बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारे द्वारा बकराजको जीवनदान मिला। तदनन्तर बकराजने इन्द्रको प्रणाम किया एवं कहा—सुरेश्वर! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मेरे प्रिय मित्र गौतमको भी जीवित कर दीजिये। उसके अनुरोधको स्वीकार कर इन्द्रदेवने अमृत छिड़ककर उस ब्राह्मणको जीवित कर दिया। राजधर्माने गौतमको हृदयसे लगा लिया एवं धनसहित विदा कर दिया।

श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ बर्ताव ही करते हैं एवं नीच पुरुष अपना हित करनेवालेका भी अहित करते हैं।

हमें उपकार ही करना चाहिये और इस शरीरको दूसरोंकी सेवाके लिये मिट्टीमें मिला देना चाहिये। शरीर मिट्टीमें मिलेगा ही, पर सेवा करते करते मिला दे। सेवा बड़ी उत्तम चीज है। तन, मन, धन किसी भी तरहसे बने, अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करे। भगवान् कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

एक महात्माके पास कोई गरीब जाया करता था और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पूछा करता था। महात्मा कहते कि आर्त, दुःखी पुरुषकी सेवा करो। कई वर्षों तक सेवा की और कहा कि मैंने अपनी दो चार हजारकी सारी पूँजी सेवामें लगा

दी। अब चने बेचकर जीवन-यापन करता हूँ। आपकी आज्ञाका पालन अभीतक करता हूँ। उन्होंने फिर कहा—दुखियोंकी सेवा करो। उसकी महात्मामें श्रद्धा थी। गर्मीकी ऋतु थी। एक लकड़हारा आ रहा था, उसे लू लग गयी थी। उसे पानी पिला दिया, उसमें जान-सी आ गयी। उसे खानेको चने भी दे दिये, वह उससे सन्तुष्ट हो गया, उसे और जल पिला दिया। वह स्वस्थ हो गया और चला गया।

उसके जाते ही भगवान् प्रकट हो गये और कहा—वर माँगो। उसने अनन्य प्रेम माँगा और कहा कि जब चाहूँ तभी आपके दर्शन करूँ। वह महात्माके पास गया और कहा कि आज आपके वचन सफल हो गये। महात्माने कहा—आज सच्ची सेवा हुई। इसी तरह लोगोंकी सेवा करनी चाहिये। एक ही सेवासे बेड़ा पार हो जाता है।

पालन करनेयोग्य सार बातें

नियमित रूपसे नित्य श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के नामका जप करना चाहिये। हो सके तो बाइस हजार नाम-जप करे अथवा षोडश मंत्र (हरे राम हरे राम०)-की चौदह माला फेरे तथा संध्या और गायत्री-जप करके मानसिक पूजा, परमात्माका ध्यान और गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित पाठ करे।

संसारके विषय-भोगोंमें वैराग्य रखे। मन इन्द्रियोंको वशमें करके विषय पदार्थोंसे हटाकर भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न करे।

नित्य सत्संग करे। सत्संग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन करे।

घरमें नित्य नियमपूर्वक सब एकत्र होकर कीर्तन करें तथा नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सुधारके लिये परस्पर परामर्श करें। एक व्यक्ति गीता, रामायण आदि सत्-शास्त्र सुनावें और दूसरे सब सुनें। इस प्रकार नियमित रूपसे नित्य कम-से-कम एक घण्टा बितावें।

चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, नित्य निरन्तर श्वास या वाणीसे भगवान्‌के नामका जप करते हुए मनसे सर्वत्र भगवान्‌का चिन्तन करे।

दुःखी, अनाथ, गरीब व्यक्तियोंकी तन, मन, धनसे सेवा करे। भूखेको अन्न, नंगेको वस्त्र, बीमारको औषध और विद्यार्थियोंको पुस्तक आदि दे।

किसीका चोरीका माल न ले। व्यापारमें वजन, नाप और संख्यामें कम न दे और अधिक न ले। सेलटैक्स और इनकम टैक्सकी चोरी न करे। ब्लैकमें कोई माल न बेचे। यदि

घरमें भोजनके लिये अन्न और पहननेके लिये कपड़ा आदि ब्लैकसे लाना पड़े तो निरुपाय बात है। माल खरीदनेमें भले ही मोलभाव करे, पर बेचनेके समय सबको एक दाम कहे।

ऐश, आराम, स्वाद आदि भोग और झूठ, कपट, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तु, सट्टा-जुआ आदि दुराचार तथा आलस्य, प्रमाद, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि दुर्गुणोंको विषके समान समझकर कतई त्याग दे।

क्षमा, दया, शान्ति, समता, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि सद्‌गुण तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत आदि सदाचारको अमृतके समान समझकर सेवन करे।

शयनके समय व्यर्थ संकल्पोंका प्रवाह हटाकर मनमें भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके संकल्पोंका प्रवाह बनाकर सोये।

भगवान्‌के अनुकूल होना चाहिये एवं भगवान्‌की इच्छाके अनुसार चलना चाहिये।

भगवान्‌के नाम, रूप और गुणोंको हर समय याद रखना चाहिये।

जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त हो, उसमें आनन्द मानना चाहिये। भगवान्‌की दया समझनी चाहिये। भगवान्‌का ही किया हुआ न्याय मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। मन मलिन नहीं करना चाहिये।

आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये। कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान्‌के ऊपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। अपनेको उनके चरणोंकी शरण समझना चाहिये।

निर्भयता, धीरता, संतोष, शान्ति एवं प्रसन्नता होनी चाहिये।

भोजन, वस्त्रका संयम, व्यापारमें सत्य-भाषण, लोभ-कपटका त्याग, सबके साथ स्वार्थ छोड़कर विनयपूर्वक प्रेमका सत्-बर्ताव करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

सब प्रकारके स्वार्थका त्याग करना चाहिये। किसीके भी लाभ है वह हमारा ही है। एक चन्दनका वृक्ष सभी वृक्षोंको चन्दन जैसा बना देता है। जो मनुष्य परमात्माका विषय लेकर लोगोंको परमात्माकी ओर लगा दे, उसकी दलालीमें भगवान् स्वयं ही बिक जाते हैं। महात्माको खरीदना चाहे तो सहज उपाय है कि उनके सिद्धान्तके प्रचारके लिये अपना तन, मन, धन लगा दे और अपने आपको भी उनके अर्पण कर दे। यही भगवान्‌को भी खरीदनेका उपाय है। सबसे बढ़कर यह बात है कि वाणीसे जप एवं मनसे भगवान्‌का ध्यान करे।

स्वार्थ मनुष्यको भुला देता है। पहले दूसरेको मौका दें, हम तो पीछे ही चलेंगे। इस प्रकार सारे संसारका कल्याण हो जाय तब स्वयं पीछे चले। श्वासद्वारा खूब जोरसे जप करे। जो शक्तिशाली पुरुष होगा, वह अपना अधिकार अपने आप ही जमा लेगा। जैसे एक छोटी-सी चिनगारी सारे ब्रह्माण्डको जला सकती है, वैसे ही एक जीवन्मुक्त पुरुष सारे संसारका उद्धार कर सकता है। यह भी उसकी बहुत थोड़ी महिमा बतायी है। जैसे एक गंगा सारे संसारकी प्यास बुझा सकती है। परमात्माको प्राप्त मनुष्यकी उपमा तेल-बत्ती सहित दीपक है। एक दीपकसे सारे दीपक प्रकाशित किये जा सकते हैं।

ईश्वरके तत्त्वका उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ेगा। महात्माका ज्ञान बढ़ेगा, तब क्या लक्षण होगा, इसकी परीक्षा लौकिक दृष्टान्तसे समझायी

जाती है। जैसे स्त्रीको देखने, छूनेसे विकार होता है, वैसे ही महात्माको देखनेसे, छूनेसे प्रसन्नता, शान्ति, रोमांच एवं अश्रुपात होगा। क्षण-क्षणमें बढ़ता जायगा, आनन्दकी लहर उठने लग जायगी।

दृश्य पदार्थ इस समय हमें जडसे दीख रहे हैं, ज्यों-ज्यों परमात्माको समझेंगे, त्यों-त्यों दृश्य पदार्थमें चेतनता आ जायगी और अपने शरीरमें ज्ञानकी जागृति हो जायगी। वह जागृति सारे संसारमें हो जायगी, फिर संसारमें सार नहीं रहेगा। सब फीके लगने लग जायँगे। सबको देखकर शरीरमें बड़ी भारी जागृति और अलौकिक शान्ति होगी। परमात्माको जैसे-जैसे जानेंगे, वैसे-वैसे आनन्दकी वृद्धि होगी। ज्ञानकी बाहुल्यता होनेसे समझना चाहिये सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, रजोगुण एवं तमोगुण दबे हुए हैं।

भगवान्‌के ध्यानकी अवस्थामें भी यही बात होती है। प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर तो बहुत ही विलक्षण स्थिति हो जाती है। जब साधक पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, उस समय विलक्षणता हो जाती है।

भक्त, भक्ति, भगवान् वास्तवमें एक ही वस्तु हैं। यह वास्तवमें जान जानेपर भेदभाव नहीं रहता।

प्रेम, प्रेमी एवं ईश्वर एक ही हैं, वही प्रेमकी शेष सीमा है।

सुख, दुःखकी प्राप्तिको भगवान्‌का पुरस्कार मानना भगवान्‌की शरण है।

भगवान्‌की इच्छाका तो पता नहीं चलता, इसलिये जो कुछ हो जाय उसमें आनन्द मानना चाहिये।

महापुरुषके संग, उनकी सलाह, प्रसन्नता एवं संकेतके

अनुसार चलनेसे शीघ्रातिशीघ्र लाभ होता है। महापुरुषकी ओर चलनेसे ही काम, क्रोधादि चोर-डाकू पहलेसे ही भाग जाते हैं। काम, क्रोधादिको जबतक हमने अपनी आत्माका नाश करनेवाला नहीं समझ रखा है, तबतक ही ये सब हैं।

लड्डूमें विष मिला हुआ है, मालूम पड़नेपर आप उसी क्षण छोड़ देते हैं। उसी प्रकार काम-क्रोधादिको विषतुल्य समझनेके बाद त्यागना मामूली बात है।

महात्माकी शरण होकर मनसे प्रार्थना करे। मैं वाणीमात्रसे शरण हुआ हूँ, आप मुझे स्वीकार कर लें। भगवान्की कृपासे भगवान्की शरण ली जाय, तब भगवान्की दयासे सब कुछ हो जाता है।

महात्माको जाननेके लिये उसका प्रयत्न इतना तीव्र हो जाय कि सब काम छोड़कर परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करे। उसकी सारी क्रिया परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त ही हो। उसके संसारके कामकी आसक्ति हट जाती है। उसकी केवलमात्र एक भगवान्से मिलनेके लिये अनन्य लगन हो जाती है। इस प्रकार प्रयत्न हो जाय तब समझना चाहिये कि इसका महात्माके वचनमें विश्वास हो गया। वह उनकी बातके परायण हो गया।

परमात्माको जाननेवाला पुरुष मिल जाय, आपको विश्वास हो जाय, आप उसके लिये निरन्तर प्रयत्न करें तो आप बहुत शीघ्र ही उन्हें जान जायँगे। जितनी तेजीके साथ श्रद्धा होती है, उतना ही उसने महात्माको समझा। उसका प्रयत्न श्रद्धाको बतलानेवाला है।

नदीमें डूबता हुआ व्यक्ति बाहर निकलनेके लिये जितना प्रयत्न करता है, उसी प्रकार उसका प्रयत्न होगा।

आप यदि मृत्युके पहले सावधान नहीं होंगे तो आपकी बहुत बड़ी हानि है। इस बातका जितना विश्वास होगा, उतना ही साधन तेज होगा।

भगवान् कहते हैं कि गीताका प्रचार करनेसे मेरी प्राप्ति होगी। प्रचारके प्रकार—

१. पुस्तक खरीदनी-बेचनी।

२. **बोधयन्तः परस्परम्**—दस-पाँच लोग बैठकर आपसमें गीताकी चर्चा करें।

३. सब लोग नियम कर लें कि कम-से-कम दो श्लोकका नित्य मनन करेंगे।

इनको स्वयं तत्पर होकर चेष्टा करें और दूसरोंसे भी करनेकी प्रेरणा करें।

मुझे यह काम सबसे प्रिय है। गीताका खूब प्रचार करें, स्वयं उसे खूब काममें लायें।

आप स्वयं उस कामको नहीं करें और दूसरोंको करनेके लिये कहें, यह बुद्धिमें भेद उत्पन्न करना है।

गीताका भाव घर-घरमें, गाँव-गाँवमें खूब प्रचार करो। उसके समान भगवान्‌को कोई प्रिय नहीं लगेगा।

आपको जितना ज्ञान हो, उतनी ही चेष्टा करें। आपकी शक्तिसे अधिक भगवान् नहीं चाहते।

भगवान् उसको यह अधिकार भी दे देते हैं कि वह दूसरोंको भी भगवान्‌से मिला दे।

आत्माका कल्याण नीयतसे है। जितना नीयतका मूल्य है, उतना आचरणका नहीं है। भावमें लाभ है।

भक्तिका भाव तेज करे। जितना भाव तेज हो, उतना अधिक लाभ हो।

यह अवसर सदा नहीं रहेगा। इस समय जो लाभ उठाना चाहे, वह उठा ले।

धनमें ममता रहनेसे ही धन अपवित्र होता है। जिसमें ममता नहीं है, वह पवित्र है। जैसे गंगाजलमें मूत्र गिरनेसे अपवित्र हो जाता है।

लड़का, स्त्री, धन—इनमें ममता मूर्खता है। भगवद्-विषयक प्रेम ही सच्चा है। संसारके प्रेमकी भगवद्-विषयक प्रेमसे तुलना नहीं की जा सकती।

भगवान्‌का दर्शन करनेपर भगवद्-भक्तके रोम-रोममें प्रेम व्याप्त हो जाता है।

साधक सोचता है कि तेरे जैसे नीच पुरुषसे भी भगवान् प्रेम कर रहे हैं। भगवान्‌की दयाको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है। वह वैसी ही क्रिया करता है, जिससे भगवान् प्रसन्न हों।

भगवान्‌के सिवाय जबतक दूसरी चीजमें प्रेम है, तबतक भगवान्‌का तत्त्व जाना नहीं।

जबतक संसारमें प्रेम है, तबतक यही समझना चाहिये कि भगवान्‌में प्रेम नहीं है।

एक क्षणमें प्रलय हो जायगा, इसलिये अभी काममें लग जाओ। पद-पदपर भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये।